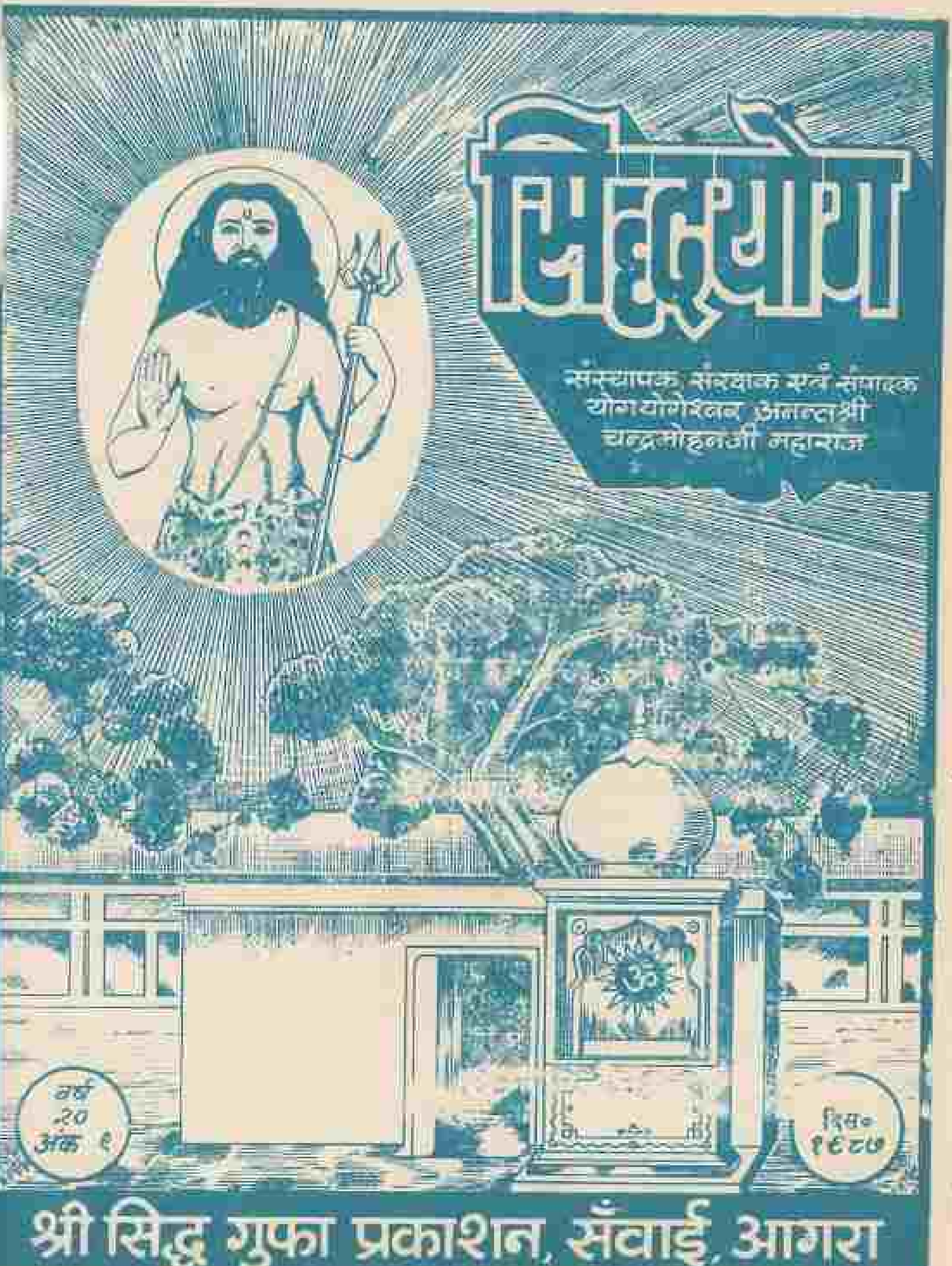
सिद्धयोग
संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज
वर्ष २०
अंक १
दिस० १९८७
श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवाई

❀ गिरिशान्ताभिचाकशीहि (प्रार्थना) १
❀ योगके भेद, उपभेद और उनकी साधना (विशेष लेख) २
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
❀ सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नास्ति कदाचन् ६
श्री जगदीशनारायण उपाध्याय
❀ प्रेरक प्रसंग १३
श्री केशव देव उपाध्याय
❀ मानव और विश्व-कल्याण १७
डा० श्री जीवनलाल शर्मा
❀ तुमको नितशत कोटि नमन है ? (कविता) २०
श्री नन्दकिशोर 'ध्यान'
❀ सत्गुरु की महिमा अनन्त २२
सु०श्री आशादेवी
❀ आनन्द २७
श्री विष्णुप्रसाद व्यास
❀ योग ३५
श्री रामकृष्ण सिंघल
❀ गृहस्थ आश्रम में ब्रह्मचर्य ३६
श्री बालकोबा भावे
❀ सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर ४१
श्री विद्यानन्द सरस्वती
❀ चिन्तन का अमृत ४३
डा० श्री महेन्द्रप्रकाश गुप्ता
❀ मन की एकाग्रता के साधन : अभ्यास और वैराग्य ४६
श्री देवेन्द्र प्रतापसिंह
❀ शरीर और उसका धर्म ४८
श्री सोहनलाल एन० डी०

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

दिसम्बर
१९८७

वार्षिक मूल्य ३० रुपया । इस अङ्क का ४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २० अङ्क ६	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विजयते, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थं बहुविमर्श योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग'॥	दिसम्बर १९८७

❀ गिरिशन्ताभिचाकशीहि ❀

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥

—यजुर्वेद अध्याय १६/२

अर्थात्

हे रुद्रदेव! आपकी जो भयानकता से शून्य तथा पुण्य कर्मों से प्रकाशित होने वाली कल्याणमयी सौम्य मूर्ति है—जिसका दर्शन करके मनुष्य परम आनन्द में मग्न हो जाता है। हे गिरिशन्त! अर्थात् पर्वत पर निवास करते हुए समस्त लोकों को सुख पहुचाने वाले परमेश्वर! उस परम-शान्त मूर्तिसे ही कृपा करके आप हम लोगोंकी ओर देखिए। आपकी कृपादृष्टि पड़ते ही हम सर्वथा पवित्र होकर आपकी प्राप्ति के योग्य बन जायेंगे।

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योगी को लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो पाती है जब वह अष्टाङ्ग योग भेद-उपभेदों को समझकर उनके अनुसार अपनी जीवन-चर्या बनाने का प्रयत्न कर पाने में समर्थ हो लेने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। अष्टाङ्ग योग के भेद उपभेद क्या है, प्रस्तुत लेख में विस्तार से इसी को समझाने का प्रयास 'सिद्धयोग' के पाठकों के लिए श्री गुरुदेवजी ने किया है।

—सं० स०

योग के भेद, उपभेद और उनकी साधना

'**योग**' शब्द इतना व्यापक एवं महत्वशील है कि सभी सिद्धान्तवादियों ने इसे अपने हृदय से अपनाया है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग, शून्ययोग इत्यादि ये सभी शब्द इसकी व्यापकता के परिचायक हैं। इस संसार में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा, जिसको योग की सच्ची जिज्ञासा न हो, किन्तु 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की युक्ति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने इसका अपनी मति के अनुसार अर्थ किया है। जो लोग हृदय प्रधान हैं और ईश्वर की अर्चना-वन्दना आदि के रूप में लक्ष्य प्राप्ति में संलग्न हैं, उन्होंने इसको 'भक्तियोग' से जो लोग ज्ञाननिष्ठा प्रधान हैं और महावाक्यों का मनन करते हुए भी वेदान्त सिद्धान्तोंके अनुसार आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील हैं उन्होंने ज्ञानयोग के रूपमें और जो लोग ईश्वरार्पित बुद्धि से निष्काम भाव से कर्म करते हुए कर्म-बन्धन से छूटकर अपने लक्ष्यको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्होंने इसे कर्मयोग के नामसे अपनाया है। इसके अतिरिक्त योग के व्यापक प्रभाव और महत्ता को देखकर कुछ दम्भी लोगों ने इस शब्द को अपनाकर यक्षिणी पिशाचिनी आदि छोटी-छोटी तामस-राजस शक्तियों की आराधना कर सिद्धियों को पाकर संसार के भोले-भाले प्राणियों को चमत्कार के जाल में डालकर अपनी पूजा कराई और अपने-को योगी सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त जिन्होंने योगके कुछ साधनों को कहीं से सीख लिया उन्होंने योगाश्रम स्थापित कर लिए और केवलमात्र नेति-धौति आदि षट्कर्म व आसन बन्ध-मुद्राओं के द्वारा शारीरिक साधनायें ही अपना परम-लक्ष्य बना लिया है। इसी प्रकार बिना अष्टांग-योग की साधना के ही किन्हीं लोगों ने भू-गर्भ, जल-गर्भ आदि समाधियाँ लगाकर योग के व्यापक शब्द से लाभ उठाया।

यह सब योग का वास्तविक अर्थ न समझ पाने या समझकर भी उसकी उपेक्षा करने के कारण है।

वस्तुतः ठीक प्रकार से विचार कर देखा जाय तो 'योग' शब्दका अर्थ है मिलाने वाली क्रिया। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज् धातु से संन्धानार्थ भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होकर योग शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है जुड़ना-मिलना। युज् समाधौ से 'योग' का अर्थ है समाधि।

योगाचार्य भगवान् पतञ्जलिदेव जी ने 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' कहकर योग शब्दको अभिव्यक्त किया, जिसका अर्थ है चित्तवृत्तियों का निरुद्ध होना। "चित्तवृत्ति नाम नितरां निरोधः" अर्थात् चित्तवृत्तियों का नितान्त रुक जाना ही निरोध शब्द का अर्थ है और हमारी शास्त्रीय परिभाषा में निरोधः समाधि "समाधिर्वै योगः" अर्थात् समाधि का नाम ही योग है और निरोध को ही समाधि कहते हैं और समाधि शब्द का अर्थ है "समाधिः समतावस्था जीवात्मा परमात्मनोः" कहकर हमारे आचार्यों ने जीव और परमात्मा की समस्थिति ही योग समाधि बतलाया है अर्थात् जिस क्रिया को करके जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जावे, उसी क्रियाको समाधि कहा गया है। भगवान् पतंजलिदेवजी ने यहाँ पर "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" कहकर योग का लक्षण किया, वहाँ उसके साथ ही "तदा-द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानाम्" कह करके जीवात्मा का समाधि स्थिति में स्वरूपावस्थित होना स्पष्ट बतला दिया है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेवजी ने बिल्कुल स्पष्ट किया है कि "स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चिति-शक्तिर्यथा कैवल्ये" अर्थात् चितिशक्ति जैसी कैवल्य में होती है वही स्वरूप प्रतिष्ठा का सही अर्थ है। जीवात्मा समाधि में भी कैवल्य की तरह ही स्वरूप प्रतिष्ठ होता है। किन्तु "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" इस सूत्र में केवल मात्र चित्तवृत्ति निरोध को योग कहा है न कि 'सर्व चित्तवृत्ति निरोध' को, क्योंकि इस सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण नहीं है। इसलिए योग की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों ही अव-स्थाओं का नाम योग है, ऐसा जानना चाहिए। 'वितर्क विचारानन्दास्मितानुगत संप्रज्ञातः' कह करके संप्रज्ञात योग व 'विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्व संस्कारशेषोऽन्यः' कह करके असंप्रज्ञात योग का कथन किया है।

सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि को दूसरे शब्दों में एकाग्रावस्था व निरोधावस्था भी कहना चाहिए। सारे संसार के प्राणियों के चित्त पाँच अवस्थाओं में विभक्त रहा करते हैं। उनमें से—

१. मूढ़ावस्था के प्राणी—इनमें तमोगुण प्रधान रहता है तथा रज और सत्वगुण गौण हो जाया करते हैं। इस अवस्था के चित्त वालों की प्रवृत्ति काम, क्रोध, मोह आदि से आवृत्त रहा करती है और ये आलस्य तन्द्रा से घिरे रहते हैं। किसी भी प्रकार उनकी उदर की पूर्ति होती रहे, इसके अतिरिक्त किसी के हिताहित लोक, परलोक आदि से

इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरी अवस्था का नाम है—

२. क्षिप्तावस्था—इनमें रजोगुण प्रधान रहता है। तमोगुण व सत्वगुण गौण रहने के कारण इनके मन में चंचलता, दुःख, शोक, चिन्तायें बनी रहती हैं। लौकिक साधना ही इनका परम लक्ष्य रहता है। सांसारिक कार्य, धनो: व्यापार के अतिरिक्त परलोक आदि में इनकी भी आस्था नहीं होती।

यावज्जीवेत् सुखंजीवेत्,
ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य,
पुनरागमनम् कुतः॥

इन लोगों का प्राय: सिद्धान्त रहा करता है—इनकी मान्यता यही रहती है कि मनुष्य संसार में जब तक जीवित रहे उसे सुखपूर्वक जीना चाहिए। ऋण लेकर भी ऐश-आराम करना चाहिए। मृत्यु के बाद शरीर जलकर भस्म हो जायेगा। भस्मी-भूत हुआ वह शरीर फिर नहीं मिलेगा। लोक व परलोक की बातें थोथी हैं। स्वर्ग व अपवर्ग किसने देखा है। इसलिए जो कुछ भी स्वर्ग-अपवर्ग है इसी लोक में है। इसके अतिरिक्त तीसरी अवस्था के प्राणी होते हैं—

३. विक्षिप्तावस्था—इनमें सत्वगुण प्रधान रहता है, रजोगुण व तमोगुण गौण हो जाया करते हैं। इनके मन में पूर्ण प्रसन्नता, क्षमा, दया, परोपकार की भावना और साधनों में संलग्नता व ज्ञान, धर्म, वैराग्य में पूरी-पूरी अभिरुचि रहती है। इनका मन थोड़ा-थोड़ा एकाग्रता की ओर चलने लगता है तथा शान्त रहता है। ये लोग स्वाध्याय, संकीर्तन, उपासनायें इत्यादि करते हैं, किन्तु एकाग्रता के बिना इस भूमिका के प्राणी योग श्रेणी के नहीं माने जाते, क्योंकि इनमें समाधि गौण रहती है, विक्षेप प्रधान रहता है। भगवान वेदव्यासजी ने इस स्थिति में रहने वाले व्यक्तियोंके लिए स्पष्ट लिखा है—

तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्ज-
नीतः समाधिनं योग पक्षे वर्तते।

अर्थात्—विक्षेपोपसर्जनी भूत समाधि योग पक्ष में नहीं मानी जाती। ये लोग जप, तप, आदि में प्रयत्नशील रहते हैं और ईश्वरानुग्रह की प्रतीक्षा में अपने मन को आश्वासित रखा करते हैं। जब कभी इनके मन में तरंग उठती है तो यह कह उठते हैं—

राम नाम रटते रहो,
जब लगि घट में प्रान।
कबहूं दीनदयाल के,
भनक पड़ेगी कान॥

इन तीन स्थितियों में रहने वाले व्यक्ति 'योगी' शब्द से अभिवाच्य नहीं होते। योग की वर्णमाला तो मन की एकाग्रता से आरंभ मात्र होती है। चौथी अवस्था है—

४. एकाग्रतावस्था— इसमें सत्वगुण प्रधान रहता है व रजोगुण व तमोगुण मात्र में गौण रहते हैं। इनका मन दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्ण स्ववशीकार संज्ञा वैराग्यम् हो करके अपर वैराग्य को प्राप्त होता है। मनुष्य का मन बहुत ही अद्भुत

शक्तिशाली है, यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो इस सृष्टि के बड़े-बड़े अद्भुत कार्य मन की एकाग्रता से ही सम्पन्न होते हैं। जब तक मन में एकाग्रावस्था का उदय नहीं होता, तब तक हम किसी भी मन्त्र का उच्चारण करते रहें, वह केवल वर्ण-विन्यास मात्र रहेगा। र म क च ट ये सब शब्द हैं। शब्द की उत्पत्ति आकाश से होती है और आकाश में ही इसका विलय हुआ करता है। राम-नाम का उच्चारण करके तब तक हम कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते जब तक कि श्रीराम के रूप में हमारा मन लीन न हो जाय। भगवान् पतञ्जलिदेवजी ने इसीलिये ईश्वर के मुख्य नाम 'ॐ' का वर्णन "तज्जपस्तदर्थ भावनम्" कहकर किया है अर्थात् प्रभु के नाम का जप करना और अर्थ का ध्यान करना। ये दोनों क्रियाएं साथ होने पर ही मनुष्य नाम-जप के शुद्ध परिणाम को पा सकता है। यद्यपि मन बहुत चञ्चल है और मन की चञ्चलता को जगदात्मा अखिल लोकनायक भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी ने स्वयं स्वीकार किया है—

असंशयं महाबाहो
मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय,
वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थात्—हे अर्जुन! अवश्य ही मन बहुत चञ्चल है पर वह अभ्यास व वैराग्य के द्वारा नियन्त्रण में लाया जा सकता है। मन की शक्ति को तब तक हम नहीं जान सकते जब तक कि वह एकाग्र न हो जाय। हमारे आचार्यों ने मन को ज्योतियों की भी परम ज्योति कहा है। पर उस ज्योति शक्ति को इसके एकाग्र होने के बाद ही हम जान सकते है। जिस प्रकार से तीव्र गति से चलने वाले बिजली के पंखे को हम केवल एक गोल चक्र के रूप में ही देखते है, लेकिन जब वह रुक जाता है तो उसकी तीनों पंखड़ियां अलग-अलग दिखलाई देने लग जाती हैं। इसी प्रकार मन को एकाग्र करके ही उसके अन्दर छिपे हुये रहस्यों को हम जान सकते है अतः मन की एकाग्रतावस्था को हमारे योगाचार्यों ने समाधि पक्ष में माना है और इसी को सम्प्रज्ञात योग कहा गया है। सम्प्रज्ञात योग के विषय में भगवान व्यासदेव ने अपने भाष्य में ये शब्द लिखे है:—

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूत्यार्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान् कर्म बंधनानि श्लथयति। निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।

अर्थात्—एकाग्रचित्त अद्भुत अर्थ को प्रकट करता है क्लेशों को क्षीण करता है, कर्म बन्धनों को ढीला करता है, तथा चित्त को निरोधाभिमुख करता है, तब इसे ही सम्प्रज्ञात योग कहते है। इसलिए सम्प्रज्ञात योग में चूंकि मन की एकाग्रता होती है और विभिन्न प्रकार की अनुभूतियां हुआ करती है तथा मन की शक्तियां प्रकट होती रहती हैं, इसीलिए इसे सम्प्रज्ञात योग कहा गया है।

आगे पांचवीं स्थिति के प्राणी निरोधावस्था के प्राणी कहलाते हैं।

५. निरोधावस्था—इसमें बाहर से गुणों का परिणाम बन्द होकर चित्त सत्वमें निरोध परिणाम संस्कार मात्र से शेष रह जाता है, तब दृष्टा अपने में स्थित हो जाता है। ऊपर वर्णन की गई पाँचों प्रकार की अवस्थाओं में केवलमात्र एकाग्रतावस्था व निरोधावस्था को ही योग श्रेणी में लिया है। संसार का कोई भी प्राणी किसी प्रकार की साधनायें करता रहे, जब तक मन में एकाग्रता का उदय न हो जाय, तब तक उसका योग में प्रवेश नहीं माना जा सकता है। भगवान् पतंजलिदेवजी ने

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-
धारणाध्यानसमाधयोऽष्टवङ्गानि।

कह करके योग का वर्णन किया है। अङ्ग-अङ्गी से अलग नहीं होते। इस विचार से अष्टांग-योग के किसी भी एक अंग का पालन करने वाला भी योग का विद्यार्थी तो है ही।

इनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये पाँच अङ्ग धारणा, ध्यान व समाधि की अपेक्षा बहिरङ्ग है व धारणा, ध्यान, सम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात की अपेक्षा बहिरङ्ग हैं। भगवान् पतंजलिदेवजी के शब्दों में किसी एक पर चित्त को बांधना धारणा कहलाती है। 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' से ही सम्प्रज्ञात योग का श्रीगणेश होता है। धारणा सिद्ध हो जाने पर मन के अन्दर योग में प्रवेश की योग्यता आ जाती है। धारणा की सिद्धि से प्राप्त हुई योग्यता वाले मन की वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी योगी अपने प्रथम अभ्यास में वितर्कानुगत योग का अभ्यास करता है, उसमें वह आकाश, वायु, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी इन पाँच महाभूतों का व शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनके गुणों का प्रत्यक्ष करता है। इस वितर्कानुगत योग में पञ्च-भूत व पञ्च-भूतों से होने वाले विस्तार का और इनके सब विषयों को पूर्ण प्रत्यक्ष करता है। साधक अपने अभ्यास में पृथ्वी तत्व में पहाड़, सुरम्य, वन-उपवन में नाना प्रकार की दिव्य सुगन्धों का अनुभव करता है और जल तत्व में नाना प्रकार के समुद्र और रसों का अनुभव करता है। अग्नि तत्व में अनेक विधि ज्वालाओं और महान् दिव्य रूपों का अनुभव करता है। वायु तत्व में दिव्य स्पर्शों का अनुभव करता है व आकाश तत्वमें शून्य आकाश व आकाश से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के शब्दोंको सुनता है। इस वितर्कानुगत योग के सवितर्क और निर्वितर्क ये दो अलग भेद हैं। इसमें सवितर्क समाधि—

तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः 'संकीर्णा सवितर्का' समापत्तिः।

अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में शब्द, अर्थ और उसका ज्ञान मिला हुआ सा होने पर बराबर अलग-अलग भासित होते रहे वह सवितर्क समाधि कहलाती है एवं इसका अभ्यास करते-करते चित्त ध्येयाकार हो जावे व शब्द, अर्थ, ज्ञान न रहे तब वह निर्वितर्क समाधि कहलाती है।

इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे साधक के ध्यान में एक गाय है। गाय एक शब्द है लम्बे गले वाली, दो सींगों वाली, सफेद रंग, चार पैरों वाली गाय एक पशु है। यह ज्ञान होना चाहिए कि ऐसी एक गाय है, यही ज्ञान है। ये तीनों शब्द, अर्थ और ज्ञान एक विषयक होते हुए भी अलग-अलग समझ में आते हैं। ऐसी स्थिति का नाम सवितर्क समाधि है। जिसमें साधक का मन ध्येयाकार बन जाये व शब्द, अर्थ, ज्ञान अलग-अलग अनुभव न आकर भासित होते रहें वह निर्वितर्क समाधि है।

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का।

विचारानुगत योग निर्वितर्क समाधि की पराकाष्ठा में पहुंच जाने के बाद मनुष्य का मन सूक्ष्म विषयों में प्रवेश करता है। अभी तक वितर्कानुगत योग में उसने स्थूल महाभूतों का और उनके विषयों का प्रत्यक्ष किया था। किन्तु अब विचारानुगत योग में महाभूतों की अपेक्षा उनके सूक्ष्म तन्मात्र का प्रत्यक्ष करता है। जैसे वितर्कानुगत समाधि में स्थूल महाभूत आकाश व उसके गुण शब्द का अनुभव किया था, उस विचारानुगत में सूक्ष्म आकाश या शब्द तन्मात्र का अनुभव करेगा व इसी प्रकार वायु में सूक्ष्म वायु तत्व का या स्पर्श तत्व का तन्मात्र, अग्नि में सूक्ष्म अग्नि तत्व या रूप तन्मात्र का, जल में सूक्ष्म जल तत्व या रस तन्मात्र का, पृथ्वी में सूक्ष्म पृथ्वी या गन्ध तन्मात्र का अनुभव करेगा। इसके साथ दस इन्द्रियों का मन, बुद्धि, अहङ्कार का प्रत्यक्ष करेगा। इसी प्रकार इन सूक्ष्म विषयों में होने वाली समाधि का नाम सविचार समाधि है। जिस प्रकार वितर्कानुगत समाधि के सवितर्क और निर्वितर्क के दो भेद हैं—

इसी प्रकार विचारानुगत समाधि में १—सविचार, २—निर्विचार दो भेद हैं सूक्ष्म विषय की सीमा प्रधान अलिंग तक है।

सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्ग पर्यवसानम्।

जैसे हमने किसी भी तन्मात्रा का सूक्ष्म ध्यान आरम्भ किया, उसका अनुभव देश, काल व निमित्त से सीमित अनुभव होता रहे व ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों अलग-अलग भासित होते रहें तब इसका नाम सविचार समाधि है एवं जिस समाधि में ध्येय 'विषय' देश, काल व निमित्त से सीमित न दिखलाई दें, तो वह निर्विचार समाधि कहलावेगी। इस विचारानुगत योग में मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है और सूक्ष्मता की परिधि को पहुंच जाता है। क्योंकि योगी इसमें सूक्ष्म मन का, सूक्ष्म इन्द्रियों का, सूक्ष्म बुद्धि का एवं अहंकार का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है। इसलिये इसमें दैविक शक्तियों का विकास हो जाता है। इस स्थिति के योगी को दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूर-स्पर्शन आदि ज्ञात होने लगता है। इसके साथ-साथ सूक्ष्म देव लोकादि भी अनुभव में आने लगते हैं और उन सब सात्विक स्थानीय देवताओं को देखकर भी योगी अपने आपको

इन सबसे उत्कृष्ट देखता है व बुद्धि के आमोद-प्रमोद आह्लादि सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष करता है और अपने आपको पूर्ण आनन्दमय देखता है। ऐसी स्थिति में देव लोग अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। उस समय योगी को बहुत सचेत होकर रहने की आवश्यकता है। भगवान पतञ्जलिदेवजी की आज्ञा है कि—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसङ्गात् ।

यह चारों प्रकार की समाधियाँ सबीज कहलाती हैं। यहाँ तक कि संस्कार का बीज बना रहता है। मनुष्य संसार से परे नहीं हो पाता, इसलिये स्थूलार्थ में सवितर्क और निर्वितर्क एवं सूक्ष्मार्थ सविचार, निर्विचार समाधियाँ सबीज हैं, किन्तु निर्विचार समाधि ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी स्थिति निर्मल बनती चली जाती है। पुरुष प्रकृति-पर्यन्त सब सूक्ष्म स्थूल पदार्थ शीशे की तरह उसे चमकते हुए दिखाई देने लगते हैं—

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः ।

निर्विचार समाधि की निर्मलता में योगी का स्फुटप्रज्ञा लोक होता है।

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य,
अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः,
सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ।।

ऐसी स्थिति में योगी सब चिन्ताओं से रहित होकर सांसारिक प्रवाह में बहते हुए प्राणियों को इस प्रकार देखता है, जिस प्रकार पहाड़ पर खड़ा होकर मनुष्य जमीन वालों को देखा करता है। इस स्थिति में समाधिस्थ योगी को ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्राप्त होती है। उस समय योगी जो कुछ भी देखता है सत्य देखता है। इस बुद्धि का विषय श्रुत और अनुमान से बहुत आगे का होता है। इसके संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि के आमोद-प्रमोद विषयों में ज्योंही योगी संयम करता है, त्योंही अपने आपको आनन्दमय देखने लगता है। यही है सम्प्रज्ञात समाधि की तीसरी स्थिति आनन्दानुगत समाधि की गति। इसी प्रकार पुरुष की दृक्-शक्ति और बुद्धि की दर्शन-शक्ति जब तक एक रूप में भासित है और उसमें योगी संयम करता है, तब वह अस्मितानुगत योग को प्राप्त होता है। इस अस्मितानुगत योग में पुरुष की दृक्-शक्ति और बुद्धिकी दर्शन-शक्ति एकाकार भासित होती है, । इसलिये इसे जड़-चेतन की गाँठ कहा गया है। विवेक ख्याति के द्वारा ही स्फुट प्रज्ञा लोक हो जाने के बाद विवेक ख्याति से ही जड़-चेतन की गाँठ खुल जाती है और ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा अन्य संस्कारों का प्रतिरोध हो जाने के बाद निर्बीज समाधि को योगी प्राप्त करता है, यही परम-पुरुषार्थ है। निर्बीज समाधि प्राप्त करने के लिये मनुष्य को किन-किन उपायों का अवलम्ब लेना पड़ता है? इसके विषय में यद्यपि शास्त्रों के बहुत से मत हैं जिनके विषय में हम आगे कभी वर्णन करेंगे।

इसी प्रकार योग के क्रम को समझकर अभ्यास करने वाले व्यक्ति समय पा करके योग संसिद्ध पुरुष हो जाते हैं। 卐

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नास्ति कदाचन्

❀ श्री जगदीशनारायण उपाध्याय

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् 'राम' जैसे महापुरुष को, उनके भीतर स्थित गुह्य राज-विद्या राजयोग का उनको पुनः बोध कराने वाले महामनीषी महामुनि ऋषिप्रवर महाराज वशिष्ठ के निर्देशस्वरूप आये। इसी वाक्यांश को सत्य मानकर ही—अथातो ब्रह्म जिज्ञासु मोक्षार्थी साधक ने प्राणप्रण से इसे पुनः अपने भीतर जानने का प्रयास किया। जिसके कारण ही किन्हीं विशेष कारणों से भगवान 'शिव' की प्रसन्नतावश दैवी सम्पत्ति, गुण माया के प्रभाव से एवं सिद्ध सद्गुरुओं की प्रेरणा से 'अध्यात्म विद्या' वाला यह ज्ञान पुनः आपके सम्मुख उपस्थित करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सच पूछिये तो इसका सारा श्रेय उन्हीं महापुरुषों को ही है, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ। अतः आप सभी साधकों से मेरा अनुरोध है कि आप सभी विवेक ज्ञानका आश्रय लें, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवत् गीता में इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोक में इस प्रकार किया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः,
प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना,
आसुरं भावमाश्रिताः॥
—गीता ७/१५

हे अर्जुन! आसुरी भाव का आश्रय लेने वाले विषयासक्त लोग मूढ़ होते हैं। विषया-सक्ति अविवेक से होती है विवेक होने से वैराग्य हो जाता है। वैराग्य होते ही शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। ये छः सम्पत्तियाँ स्वाभाविक ही प्राप्त हो जाती हैं। इन छः सम्पत्तियों के प्राप्त होने के बाद मोक्ष की इच्छा का उदय होता है, परन्तु मोक्ष की इच्छा में भी स्व-सुख की कामना है। अतः इसीलिये साधक द्वारा पहले लेख के आरम्भ में जीवन के मूल उद्देश्य के रूपमें संकल्पित प्रश्न का विषय, आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती, अन्य विशिष्ट साधकों की तरह केवल व्यक्तिगत रूप से स्वरूप स्थिति आनन्द या मुक्ति पाने तक ही सीमित नहीं है। स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास के अन्त में मुक्ति का वर्णन करते हुए पातंजल योग के आरम्भिक दो सूत्रोंको उद्धृत किया है—(१) योगश्चित्तवृत्ति निरोधः, (२) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। जिसकी व्याख्या उन्होंने निम्नलिखित शब्दों से की है।

'एकाग्रता' का अर्थ परमात्मा और धर्म-युक्त कर्म में चित्त ठहरना माना है तथा द्रष्टा-स्वरूप चित्त ठहरने का अर्थ उन्होंने सबके द्रष्टा ईश्वर के रूप में जीवात्मा की स्थिति से किया है, क्योंकि स्वामीजी जैसे समाधि की केवलता को परमेश्वर में स्थित मानते हैं, वैसे ही कैवल्य को परमात्म-प्राप्ति मानते हैं। इसी तरह कुछ लोग सांख्य और

योग-दर्शन की मानी हुई प्रचलित व्याख्या के अनुसार योग-दर्शन के सबसे अन्तिम सूत्र—"पुरुषार्थ शून्यानाम् गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" के मत से—कैवल्य की यह परिभाषा जिसका अर्थ है पुरुष (आत्मा) का केवल हो जाना, संसार के खेल से तटस्थ हो जाना, प्रकृति का उसके प्रति बिल्कुल निवृत्त हो जाना माना है। परन्तु "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" साधक ब्रह्म सूत्र (४-४-८-९) के निम्न शब्दों में—संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः। अतएव चानन्याधिपतिः ॥" के अनुसार—जिसका अनुभव विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची अवस्था का है। जिसमें आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता है। अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा वर्णन किये गये निम्न शब्दोंके अनुसार-"अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतं मिच्छन्ति चापरे। मम तत्त्व न जानन्ति द्वैताद्वैत विवर्जितम् ॥

भावार्थ—हे अर्जुन कोई अद्वैत की इच्छा करते हैं कोई द्वैत की। ये दोनों मेरे शुद्ध परमात्म तत्व को नहीं जानते। यह द्वैत-अद्वैत दोनों से परे हैं, उसमें न द्वैत है न अद्वैत है, के अनुसार साधक का अन्तिम लक्ष्य "भेदाभेद विवर्जिता पन्थः।" आध्यात्म प्रसाद तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति है। एवं व्युत्थान समाधि द्वारा अपने निरोध गुण से मन अहङ्कार में, अहङ्कार बुद्धि (चित्त) में एवं ऋतम्भरा तत्त्व प्रज्ञा है। (Perceptual fact) समाधि में प्राप्त विवेक ख्याति बुद्धि प्रकृति में लय कर देना है। ताकि वह पूर्ण रूप से आत्मा, मन, प्राण और शरीर इन सबसे भगवान को प्राप्त कर सके और उनके दिव्य शक्ति का रूपान्तर अपने भीतर करा सके। जिससे साधक अपने संकल्प को मूर्तिरूप दे सके और जीवन मुक्ति अवस्था में रहते हुए सबको मुक्ति दिला सके।

अतः इसीलिए अपने संकल्प के अनुसार इसे वैशेषिक न्याय मीमांसा दर्शन के मत से चैतन्य आत्म (ज्ञान) द्वारा मूर्तिरूप देने के लिये ही साधक ने पुरुष-प्रकृति के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत्गीता में, भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कही गयी निम्न लिखित बातों में से—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो-
ऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु
नश्यत्सु न विनश्यति ॥
—८-२०

हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष से परे एक सर्वव्यापक, मायोपाधि मूर्ति रहित अव्यक्त और अमृत तत्त्व है, जो क्षर-अक्षर का मूल है। फिर भगवान ने (गीता ७/२४) में कहा है "यद्यपि मैं अव्यक्त (अक्षर) अर्थात्-इंद्रियों को अगोचर हूँ तो भी मूर्ख लोग मुझे व्यक्त समझते हैं और व्यक्त से परे मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्त रूप को नहीं पहचानते। और उसके अगले श्लोक में भगवान कहते हैं कि "मैं अपनी योग माया से आच्छादित हूँ इसलिये मूर्ख लोग मुझे नहीं पहचानते" (७/२५) फिर

चौथे अध्याय में उन्होंने अपने व्यक्त रूप की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई है—"मैं यद्यपि जन्म रहित अव्यय हूं, तथापि अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से (स्वात्ममायया) जन्म लिया करता हूं, अर्थात्—व्यक्त हुआ करता हूं," (४/६) से आगे सातवें अध्याय में कहते हैं-"यह त्रिगुणात्मक प्रकृति मेरी दैवी माया है, इस माया को जो पार कर जाते हैं वे मुझे पाते हैं, और इस माया से जिनका ज्ञान नष्ट हो जाता है, वे मूढ़ नराधम मुझे नहीं पा सकते (७/१४)। अन्त में भगवान ने अपना निर्णयात्मक उत्तर और उपदेश देते हुये पन्द्रहवें अध्याय के (१७-१८) और अठारहवें अध्याय (६१) श्लोक में कहा है—हे अर्जुन "क्षर-अक्षर इन दोनों पुरुष प्रकृति से भिन्न है वही उत्तम पुरुष है, उसी को परमात्मा कहते हैं, वही अव्यय और सर्वशक्तिमान है, और वही तीनों लोकों में व्याप्त होकर उनकी रक्षा करता है, उसे ही शरीर के गुणों से मुक्त रहने वाला मानने के कारण मुक्तार्थी वेदान्ती लोग 'परमात्मा' कहते हैं तथा अन्य लोग प्रकृति में या शरीर में बद्ध रहने वाला मानने के कारण क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा या 'ईश्वर' कहते हैं। हे अर्जुन! सब प्राणियों के हृदय में जीव रूप से रहने वाले उसी परमात्मा का निवास है, और वह अपनी माया से यन्त्र की भांति प्राणियों को घुमाता है। भगवान श्रीकृष्ण के इसी तथ्य से पूर्ण एवं मुण्डकोपनिषद् की निम्नलिखित वार्ता—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

के अनुसार—आत्म ज्ञान की प्राप्ति व मुक्ति ज्ञान के साधन के रूप में साधक ने, मूल प्रकृति में रहने वाले वेद के उस महान पुरुष,—सत्य स्वरूप-विज्ञान स्वरूप-आनन्द स्वरूप 'शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप' परब्रह्म परमात्मा 'शिव' के बाह्य प्रकाश को मान लिया है। जो चेतन पुरुष के रूप में मायोपाधि मूर्ति रहित, सर्वव्यापी सर्वमय, अमृतमय, हिरण्यमय चेतन तत्त्व है। गीता में उसी का वर्णन पुरुषोत्तम पुरुष के रूप में किया गया है। तथा योग-दर्शन में उसे क्लेश, कर्म विपाक, आशय से रहित पुरुष विशेष ईश्वर के रूप में माना है।

धर्म मानव-स्वभाव की विचित्र गति का द्योतक है। जिसका जैसा स्वभाव हुआ, वह धर्म को उसी रूप में बना लेगा, गढ़ लेगा, इसीलिये मनुष्य को चारों तरफ भटकने से बचाने के लिए उसे सच्ची बात बताने के लिए मैत्रेयी ने बृहदारण्यक में कहा है कि श्रेयत् कल्याण मार्ग आत्म-ज्ञान है। याज्ञवल्क्य ने आत्मा को परम सुख का साधन माना है। मनु ने गृहस्थ का जीवन और गृहस्थ धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध किया है। याज्ञवल्क्य ने धर्म और समाज में, आत्मा और

संसार में झगड़ा के लिए आदेश दिया है कि धर्म के अनुकूल होते हुए भी समाज के विरुद्ध काम मत करो। याज्ञवल्क्य स्मृति ५-१५६। आपस्तम्ब ने अपने धर्म सूत्र में "समय और रीति, जो सज्जनोंको स्वीकार हो" उसे ही धर्म कहा है, शेष अधर्म है।

आर्य समाज ने समाज और धर्म को मिला कर चलाने की बात कही है। दुष्ट को दण्ड देना धर्म है, पर यदि हर एक व्यक्ति दुष्ट को दण्ड देने का काम अपने हाथ में ले ले, तो समाज कैसे चलेगा। इसलिए धर्म अन्तः-प्रेरणा तथा बुद्धि का विषय है, पर इसे कोरी भावुकता नहीं कह सकते, जैसा कि मैकडार्ड ने लिखा है—उनके विचारों से धर्म भावना मात्र है, जो अपने तथा संसार के बीच एक स्वरता पैदा करने के विश्वास से पैदा हुई है।

ईसाई धर्म में जो उपासना-पद्धति है, वह ईश्वर का बोध कराने के लिए है। बोध मन में होता है, इसलिए धर्म में जो भी कुछ पद्धति होगी मन के लिए, मन की जानकारी के लिए होगी। जो कुछ बतलाना है, सिखाना है, मन को ही है। इसलिये हमारे उपनिषदों में मन को सब प्राणियों का स्वामी माना है। मन हृदय के भीतर रहता है, जैसे धान के भीतर चावल। उपनिषद् व मनुस्मृति में आया है—"मनोमयोऽयं पुरुषो" पुरुष मन है, मनः स्वरूप है। हृदय के भीतर बैठा मन जैसा करता है करना चाहता है, वैसा मनुष्य करता है, पर आत्मा उस मन के विकार या विवेक से अछूती है। हमारे शास्त्रकारों ने जीवन के दो रूप माने हैं—एक है जीवन का सुख-दुःख भोग करने वाला तथा दूसरा तटस्थ रूप में बैठा द्रष्टा। मन के भीतर रहने वाले सारे सुख-दुःख के कार्यकारण रूपी इसी द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (प्रकृति) के सम्बन्धों का वास्तविक ज्ञान न रख पाने के कारण मानव प्राणी सुखी है दुःखी है। माया से मिलकर अपना वास्तविक स्वरूप भूल गया है। जो सहज सुख राशिथा, वह दुःख से बिलख रहा है। आनन्द की उपलब्धि के लिये तुझे कुछ करना भी नहीं है। वह तो सहज स्वरूप है माया के कारण अपना सहज स्वरूप भूलकर तू झूठे सुख-दुःख का अभिमानी बन गया है। माया नाना रूप धारण के ज्ञान दीप को बुझा देती है। ज्ञान दीप बुझ जाने पर पुनः जीव जन्म-मृत्यु के क्लेश चक्र में पड़ जाता है। अतः इसीलिये सन्त-ज्ञानी, एवं साधक महात्मा कबीर ने कहा है-

पानी बीच मीन पियासी रे।
मोहि सुनि-सुनि आवत हाँसी रे॥
आतम ज्ञान बिना सब सूना।
क्या मथुरा, क्या काशी रे॥
धोबिया जल बीच मरत पियासा,
जल ही धोवे जल ही में रोवे।

करे धोबिनो की आसा। कहत कबीर सुनो भाई साधो अच्छा जल है खासा, धोबिया—

(कबीर)

—क्रमशः

श्री गुरुदेव की वाणी—

कुछ प्रेरक-प्रसंग

❀ प्रेषक—श्री केशवदेव उपाध्याय

प्रस्तुत प्रसङ्ग आराध्यदेवजी के लखनऊ योग-प्रचार कार्यक्रम सन् १९८७ का एक अंग है, जो फरवरी महीने में इलाहाबाद माघ-मेला के बाद मनाया गया था। हमारे परम आदरणीय गुरु-भाई योगी साधक ब्रह्मचारी ओमप्रकाश जी पालीवाल तथा अनन्य गुरु-भक्त श्री मोहन लाल जी अग्रवाल की विशेष प्रार्थना पर द्रवीभूत होकर हमारे, आपके और प्राणीमात्र के भाग्य विधाता देवाधिदेव महादेव जगत्पति जनार्दन श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने लखनऊ में योग-प्रचार कार्यक्रम की अनुमति इसके पूर्व ही प्रदान कर दी थी। श्री प्रभुजी का लखनऊ योग-प्रचार कार्यक्रम अपने आप में एक विलक्षण कार्यक्रम रहा हो इसके साथ ही साथ आराध्यदेवजी के निवास स्थान और बाहर से आने वाले गुरु-भाई बहनों के आवास एवं भोजन की व्यवस्था भी इतनी अच्छी प्रकार से की गयी थी कि उसकी प्रशंसा किये बिना मन को सन्तोष हो नहीं होगा। बड़े ही मनोहारी एवं रोचक तरीके से श्री आराध्यदेवजी, श्री महाप्रभुजी के अलौकिक योग कृपाओं का वर्णन करते हुए योगामृत की वर्षा कर रहे थे।

मुझे ठीक से स्मरण नहीं आ रहा है कि लखनऊ योग-प्रचार के अन्तिम दिन या एक दिन पूर्व, एक सज्जन श्री प्रभुजी के दर्शनार्थ आये। वे भाई मोहनलाल जी के निवास-स्थान पर पहुंचे, जहाँ ऊपरी मंजिल पर हमारे आराध्यदेवजी विराजमान थे। श्री प्रभु-जी सुबह की श्री महाप्रभुजी की आरती, गीता पाठ एवं उसकी व्याख्या से निवृत्त होकर ब्रह्मचारियों एवं बाहर से आये अपने सत्संगी बच्चों को नाश्ता वितरित करके अपने निवास स्थान पर ज्योंही विराजमान हुए, हमारे गुरुभाइयों बहनों की काफी संख्या भी उनके साथ ऊपर उनके कमरे में चली गयी। उन्हीं लोगों के साथ वे नवागन्तुक योग जिज्ञासु सज्जन भी उसी कमरे में पहुंच गये जहाँ आराध्यदेव जी विराजमान थे। हमारे गुरुभाई-बहन अपने अभीष्ट मनोरथों की पूर्ति के लिए सानुरोध प्रार्थना करके पुष्प प्रसाद माँग रहे थे। श्री प्रभुजी के बच्चों में यह दृढ़ निश्चय एवं विश्वास था कि यदि श्री प्रभुजी ने हमें पुष्प-प्रसाद दे दिया तो हमारा अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जावेगा।

नवागन्तुक सज्जन को यह बात बड़ी ही अटपटी सी लग रही थी कि क्या इनके पुष्प प्रसाद से किसी महिला को लड़का पैदा हो सकता है? क्या इनके पुष्प-प्रसाद से कोई मुकदमा जीत सकता है? क्या पुष्प-प्रसाद से किसी की नौकरी लग जावेगी। और क्या इनके पुष्प-प्रसाद से किसी की लड़की की शादी निर्विघ्न हो जावेगी? वह नवागन्तुक सज्जन कुछ देर तक तो यह सब बड़े ही ध्यान से देखते रहे, फिर उसके बाद पीछे खड़े होकर श्री प्रभुजी को हाथ जोड़कर बोले कि, महात्मा जी प्रणाम! चूंकि श्री आराध्यदेवजी हमारे काफी गुरु-भाई-बहनों से घिरे हुए थे। अतः लौकिक रूप से न तो

उन्होंने यह देखा कि कोई पीछे से हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा है और न उन्हें उस सज्जन की आवाज ही सुनाई दी। जब काफी भीड़ अपने मनोरथ सिद्धियों का प्रसाद लेकर चली गयी तो उस सज्जन ने श्री प्रभुजी से प्रार्थना की, कि महाराज जी! मैंने तो आपको प्रणाम किया पर आपने मुझे आशीर्वाद भी नहीं दिया। श्री प्रभुजी ने कहा कि लल्ला! तुम्हें बार-बार हमारा आशीर्वाद है। अब बतलाओ, लल्ला तुम क्या कहना चाहते हो? उसने कहा कि प्रभो! मुझे न तो किसी अभीष्ट सिद्धि का प्रसाद लेना है और न अपनी कोई दूसरी बात पूछनी है। मुझे केवल आपसे एक प्रश्न करना है और वह यह है कि आपके शिष्य आपसे अपने सभी मनोरथों की पूर्ति के लिए पुष्प प्रसाद माँग रहे थे। आप सत्य-सत्य बतलाइये कि, क्या आपके पुष्प प्रसाद से किसी निःसन्तान को लड़का पैदा हो सकता है? मेरी समझ में ऐसा सम्भव नहीं है। और यदि आपके पुष्प-प्रसाद से किसी को लड़का पैदा नहीं हो सकता तो आप अपने शिष्यों को भ्रम में क्यों डाले हुए है?

उसकी पूरी बात को खूब अच्छी प्रकार सावधान मन से सुनने के बाद श्री प्रभुजी ने कहा कि सुनो लल्ला! हमें इस बात का पता तो नहीं है कि हमारे पुष्प प्रसाद से किसी निःसन्तान को लड़का पैदा होगा कि नहीं। यह तो हमारे बच्चों की श्रद्धा है कि हमारे पुष्प प्रसाद से उनके लड़का पैदा हो जायेगा। श्रद्धा योगी की माता की तरह रक्षा किया करती है। अतः यदि किसी शिष्य की श्रद्धा बिल्कुल अडिग है तो हो सकता है कि उसके लड़का पैदा हो ही जाय। यह तो रही श्रद्धा एवं भावना की बात। मुख्य बात जो है, वह यह है कि यदि किसी सिद्ध योगीराज की इच्छा हो जाय तो प्रसाद की क्या बात। मात्र उनके संकल्प से देवयोनि के देवता या देवयोनि स्तर के सिद्ध को अवतार लेना पड़ सकता है। उसने कहा कि क्या कह रहे हो महाराज जी। श्री प्रभुजी ने कहा कि हाँ लल्ला! मैं बिल्कुल सत्य बतलाता हूँ कि किसी सिद्ध योगिराज का मात्र संकल्प हो जाय तो देवताओं तक को अवतार लेना पड़ सकता है। रही सत्य बोलने की बात, तो मैं कभी असत्य बोलता नहीं। श्रीआराध्यदेव जी की यह अमृतमयी योगवाणी सुनकर वह सज्जन कुछ देर तक बैठकर श्री प्रभुजी की मनोहारी छवि का दर्शन करते रहे एवं फिर प्रणाम करके चले गये।

उस सज्जन को यह बात गले के नीचे उतरी या नहीं, इस बात को तो वेही जानें, परन्तु वहाँ उपस्थित सभी गुरु-भाई-बहनों को हमारे आराध्यदेवजी ने परोक्ष रूप से यह ज्ञान करा ही दिया कि वे सर्व समर्थ हैं। वह कार्य चाहे लौकिक हो या पारलौकिक। अपने सभी गुरु-भाई-बहनों तक श्री प्रभुजी की यह वाणी पहुंचाने के लिए हमने इसे लेख रूप में लिपिबद्ध करने का प्रयास किया है।

प्रेरक-प्रसंग का दूसरा भाग भी हम लोगों

के आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेवजी महाराज की अमृतमयी योगवाणी का एक अंश है। इस साल जनवरी सन् १९८७ को अपने कलकत्ता एवं दुर्गापुरके योग-प्रचार कार्यक्रम करने जब श्री सद्गुरुदेव भगवान् अपनी यात्रा पर थे, तो मुगलसराय जंक्शन पर उनके वाराणसी तथा मिर्जापुर जिले के सत्संगी बच्चे उनके चरण-कमलों का दर्शन करने एवं उन्हें माल्यार्पण करने जंक्शन पर पहुंच गये थे। उस समय श्री प्रभुजी ने अपने मुखार-विन्द से बतलाया कि दिनांक २७-१-८७ को मैं प्रातःकाल आश्रम जाते समय करीब ६ बजे मुगलसराय जंक्शन से होकर जाऊंगा। हमारे आदरणीय गुरु-भाई श्री आत्माप्रसाद सिंह एडवोकेट ने उनसे प्रार्थना करके यह अनुमति प्राप्त करली कि उधर से लौटते समय दिनांक २७-१-८७ को वे वाराणसी में उनके यहाँ रात्रि-निवास करने की कृपा करेंगे। दिनाङ्क २७-१-८७ को श्री प्रभुजी लौटते समय अपने पार्षद्गणों के साथ प्रातः काल करीब सवा ६ बजे मुगलसराय जंक्शन पर पहुंच गये।

वाराणसी के हमारे गुरु-भाई-बहनों के साथ वे अपने निवास करने के स्थान वकील साहब के घर पर पधारे। मुगलसराय जंक्शन पर उतरने के बाद जब प्रभुजी ने अपने बाल-गोपालों से उनका कुशल-क्षेम पूछना प्रारम्भ किया तो सबने अपना कुशल-क्षेम बतलाया। इसी तारतम्य में वकील साहब ने बतलाया कि श्री प्रभुजी वाराणसी में आपका प्रवचन जिस अहाते में होता है, उसमें रहने वाले हमारे गुरुभाई श्री पाण्डेयजी जिन्हें ज्यादा लोग पेशकार के नाम से जानते हैं, के छोटे बच्चे का शरीर कुछ दिन बीमार रहने के बाद अस्पताल में छूट गया। उनका यह मात्र इकलौता पुत्र ही था। अतः उनके परिवार के सदस्य इस घटना से बहुत ही दुःखी हैं। स्टेशन पर ही श्री प्रभुजी ने विधि के विधान की इस घटना पर अपना दुःख प्रकट किया।

वकील साहब के घर पहुंचते ही श्रीप्रभु जी का सामान उचित स्थान पर रखने की तैयारी हो रही थी कि हमारी आदरणीया गुरु-बहन उमा शर्मा,गुरुदेव जी तथा वकील साहब और कुछ गुरु-भाई-बहनों के साथ अहाते में निवास करने वाले पाण्डेयजी के घर पहुंच गये। चूंकि बिना किसी पूर्व सूचना के गये थे। अतः उनके परिवार के सभी सदस्य श्री प्रभुजी का उचित मान-सम्मान करने की तैयारी की बात व्यस्तता से सोचने लगे। श्री प्रभुजी को सादर उन लोगों ने आसन पर विराजमान कराया। श्री प्रभुजी ने वहाँ उपस्थित सभी समुदाय को आदेश दिया कि सब लोग बैठ जाओ, सब लोग यथा स्थान पर बैठ गये। तब श्री पाण्डेय जी की बहू जो वहीं बैठी थीं, अपने पुत्र वियोग के कारण श्री प्रभु-चरणों में करुण-क्रन्दन करने लगीं। उसका विलाप सुनकर हृदय बड़ा ही दुःखी हो रहा था। श्री प्रभुजी उसे बार-बार सान्त्वना एवं प्यार देकर शान्त करने का प्रयास कर रहे थे, परन्तु वह शांत

नहीं हो रही थी। लगातार श्री प्रभुजी की सान्त्वनामयी बातों से वह कुछ शान्त हुई। जब शान्त हुई तो उस गुरु-बहन ने सिसकते हुए स्वर में श्री प्रभुजी से प्रार्थना की कि— प्रभो! यह बच्चा तो आपके प्रसाद से ही पैदा हुआ था, यह हम लोगों को छोड़कर क्यों चला गया। उसने अधीरता भरे शब्दों में श्रीप्रभुजी के चरण-कमल पकड़कर प्रार्थना की कि महाराज! आपके प्रसाद से ही वह पैदा हुआ था, बीमारी की हालत में भी उसे आपका प्रसाद खिलाया गया। आप ही बतलाइये कि आप जैसे सामर्थ्यवान् गुरुदेव एवं हमारे दादा गुरुदेव जो योगेश्वर-सिद्धेश्वर के नाम से विख्यात है, के रहते हमारा लड़का क्यों मर गया। उसकी पूरी बातों को आराध्यदेवजी बड़े ही धैर्य एवं सावधानी से सुनते रहे और जब उसका रोना, सिसकना कुछ बन्द-सा हो गया तो श्री प्रभुजी ने कहा कि देखो लल्ली! होनी होकर ही रही है और उसे होने से रोकना ठीक नहीं होता। तुम एक प्रसंग को याद करो, तुम्हारी समझ में यह बात आ जायेगी।

काल-चक्र, युग-चक्र और जग-चक्र को एक साथ चलाने वाले परम योग-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की परम प्यारी बहन का लड़का और गाण्डीवधारी अर्जुन का प्यारा पुत्र अभिमन्यु आततायियों द्वारा युद्ध-क्षेत्र में मार दिया गया। अब तू ही बतला कि क्या काल को आदेश देने वाले भगवान् उसे बचा नहीं सकते थे? अवश्य ही बचा सकते थे, इसमें संशय की तनिक भी गुञ्जाइश नहीं है, परन्तु विधि के विधान में हस्तक्षेप करना उन्होंने उचित नहीं समझा। यह थी अमृतमयी श्री प्रभुजी की वाणी, जिससे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि हमारे आराध्यदेव सर्व समर्थ हैं। एक बात और यह है कि हमारा मन प्रत्यक्षदर्शी है और हमारे आराध्यदेव श्री प्रभुजी तत्त्वदर्शी थे। हम तत्काल अपना लाभ देखकर प्रसन्न होते हैं और हानि देख कर दुःखी होते हैं, जबकि आराध्यदेवजी अन्तिम कल्याण की भावना करते हैं।

ये दोनों प्रेरक प्रसंग श्री प्रभुजी की वाणी के ही अंश हैं, जिन्हें मैंने अपनी टूटी-फूटी भाषा में लिखने का प्रयास किया है। ❂

अमृत-कण

❀ कुछ प्रश्न हल करने से हल होते हैं और कुछ छोड़ देने से हल होते हैं। सभी प्रश्न हल करना चाहने वाले आग्रही कर्मयोगी के ध्यान में यह बात नहीं आती। संन्यास कहता है कि तू और कुछ ईश्वर पर छोड़ेगा या नहीं? अथवा सब कुछ तू ही करेगा?

❀ एकाग्रता के द्वारा ही मनुष्य समग्रता को पा सकता है। रामचरित, गीता, योग-दर्शन आदि ग्रन्थों का पाठ चाहे थोड़े ही समय हो, उसका चिन्तन दिन-भर भीतर-भीतर होते रहना चाहिए। इसके लिए किसी विशेष निर्धारित समय की आवश्यकता नहीं। चिंतन-धारा का आवेश प्रतिक्षण होते रहने में कोई बाधा न आ जाय, इसका ध्यान भी तुम्हें ही रखना होगा।

—आचार्य विनोबा

मानव और विश्व-कल्याण

❀ डा० श्री जीवनलाल शर्मा

मनुष्य कितना भोला है, कितना अज्ञानी है। कामना करता है, अक्षय सुख की, कर्म करता है अक्षय दुःख के। नाना प्रकार के संकल्पों में खोया रहता है। अनेक योजनायें बनाता है, किन्तु व्यवहार उल्टा करता है। पहले तो जीवन के उत्थान हेतु नियम बनाता है, फिर उन्हीं नियमों को तोड़ता है और इसी में सुख मानता है। कैसा विचित्र प्राणी है यह मानव ? कहा तो जाता है कि मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, किन्तु मैं समझता हूं कि मानवेतर समस्त प्राणी नियमों का पालन करते हैं, किन्तु नियमों को तोड़ने का बीड़ा मानो केवल मनुष्य ने ही उठाया है। मनुष्य ने अपने लिए समाज बनाया, किन्तु समाज में अनेक झगड़े मनुष्यों द्वारा ही होते है। समाज पर नियन्त्रण करनेके लिए राज्यों का निर्माण हुआ, उसके लिये संविधान बनाये गये, किन्तु संविधान का उल्लंघन कौन करता है ? मनुष्य, मनुष्य की इसी वृत्ति ने राष्ट्र का निर्माण किया, किन्तु उसे राष्ट्र की चिन्ता कहां ? उसे अपनी स्वार्थ-पूर्ति से ही अवकाश नहीं। मानसिक शान्ति के लिये मठ-मन्दिरों का निर्माण हुआ, किन्तु चौबीस घण्टों में एक बार भी मन्दिर जाने वालों की संख्या कितनी है ? कठिनाई से १ प्रतिशत होगी ? कैसा विचित्र जीवन है मानव का ! आश्चर्य तो तब होता है जब मनुष्य अपने लिए स्वयं ही नियम बनाता है, स्वयं ही उन नियमों को तोड़ता है और फिर इस पर प्रसन्नता का अनुभव करता है।

महाभारत की एक कथा है। वनवास में पाण्डवों को प्यास लगी। एक-एक करके भाइयों को पानी लेने भेजा गया। दूर पर एक तालाब मिला जहां एक यक्ष रहता था। यक्ष ने प्रत्येक भाई से पानी पीने से पूर्व प्रश्न का उत्तर देने को कहा। प्रश्न था—'संसार में सर्वाधिक आश्चर्य क्या है ?" चारों भाइयों में से कोई भी उत्तर न दे सका। अन्त में धर्मराज युधिष्ठिर की बारी आई। धर्मराज ने उत्तर दिया—'संसार में प्रतिदिन मनुष्य और अन्य प्राणी मरते देखे जाते है। मनुष्य यह भी समझता है कि एक दिन मुझे भी मरना है, किन्तु व्यवहार वह ऐसा करता है कि मानो यह अमर होकर आया है, उसे कभी मरना ही नहीं है, यही है संसार का महानतम आश्चर्य !"

ऐसी विचित्र स्थिति है मानव की। वह अच्छी प्रकार से समझता है कि अमुक मार्ग पर जाने से मेरा पतन होगा, किन्तु चलेगा उसी पर ही। जैसे कि कालिदास पेड़ की जिस शाखा पर बैठे थे, उसे ही काट रहे थे। इससे बड़ा आश्चर्य कहीं मिलेगा ? यह स्थिति किसी क्षेत्र विशेष की नहीं, समूचे विश्व की है। सारा विश्व विनाश के कगार पर खड़ा है। एक ओर शान्ति-वार्ताएं होती ही हैं, दूसरी ओर परस्पर राष्ट्रों में युद्ध

भड़क रहा है। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन किये जा रहे हैं, किन्तु अस्त्र-शस्त्रोंके निर्माण की होड़ लगी है। शराब बन्दी का प्रचार हो रहा है, किन्तु बड़े पैमाने पर प्रति वर्ष शराब के ठेके दिये जा रहे हैं। सर्वत्र विरोधाभास दिखाई दे रहा है। आज का विश्व-मानव कालिदास पूर्व जीवन का नवीन संस्करण नहीं है। हमारा सांस्कृतिक जीवन सूत्र है—"आत्मवत् सर्व भूतेषु। अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों को अपने समान जानो। अपने कल्याण के लिए जो करो वही सब प्राणियों के लिए भी करो। स्वयं के लिए जो न चाहो, उसे अन्यों के लिए भी न चाहो।" किन्तु हमारा भी व्यवहार आज ऐसा नहीं है। शास्त्रों का सूत्र पाठ तोता रटन्त मात्र रह गया है। जैसा किसी ने यह पढ़ा दिया था कि—"बहेलिया आयेगा, जाल बिछायेगा, हमें फँसायेगा, हम नहीं फँसेंगे!" समय-समय पर बाग के तोते यह रटते रहे। कालान्तर में बहेलिया भी आया, उसने जाल बिछाया, अन्न के दाने डाले और छिपकर बैठ गया। थोड़ी देर पश्चात् तोतों की दृष्टि उन अन्न के दानों पर पड़ी तो वे एक-एक करके उस जाल में फँस कर दाना खाने लगे और साथ-साथ यह भी रटते रहे कि बहेलिया आयेगा, जाल बिछायेगा, हमें फंसायेगा हम नहीं फँसेंगे। यही स्थिति है आज भारतीय समाज की। धार्मिक उत्थान के सूत्र तो मात्र तोता रटन्त बनकर रह गये हैं।

कहते हैं, कालान्तर में शब्दों के भी अर्थ बदल जाया करते हैं। इस सूत्र का भी हमने अपने जीवन में अर्थ बदल लिया है। अब "आत्मवत् सर्व भूतेषु" का अर्थ हमने कर लिया है। जैसे-हम (मूर्ख) हैं, वैसा ही सबको मानो। इसीलिए दुनिया कितनी आगे जा रही है हमें दिखाई नहीं पड़ता। वैज्ञानिक क्षेत्र में, आर्थिक क्षेत्र में, राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में विश्व कितनी प्रगति कर रहा है, हम उधर देखते ही नहीं। विश्व के लोग कितने चाव एवं उत्साह से योग-विद्या को सीख रहे हैं हमें यह सब देखने का अवकाश ही नहीं। मुट्ठी भर लोग अपनी संगठन शक्ति के आधार पर किस प्रकार सफल हो रहे हैं, हमारे अनुचित दुर्व्यवहार के कारण किस प्रकार हमारे ही भाई हमसे अलग हो रहे हैं, यह सब हमारी समझ में क्यों नहीं आ रहा? क्योंकि सभी उपदेशात्मक सूत्र मात्र तोता रटनी रह गये हैं।

किसी ने प्रश्न किया—"संसार में सर्वाधिक शक्ति किसमें है?" उत्तर में—किसी ने कहा—सूर्य में, किसी ने वायु में, किसी ने अग्नि में, किसी ने पृथ्वी में, किसी ने हिमालय को बताया। किन्तु निष्कर्ष में उत्तर मिला—संकल्प में सर्वाधिक शक्ति होती है। संकल्प से पर्वत भी टूक-टूक हो जाते हैं, सूर्य का रथ रुक जाता है, वायु की गति थम जाती है। असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। ऐसी होती है संकल्प शक्ति। यह संकल्प शक्ति विषय है मन का। मन ही सर्वशक्तिमान् है। इसीलिए कहा गया है—"मन एव

मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो।" मानव के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। किसी ने यह ठीक ही कहा है—"मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।" यदि मनुष्य मन पर नियंत्रण कर ले तो विश्व को भी जीत सकता है। जिसने मन को जीत लिया, वह विश्व में अजेय है। स्वामी विवेकानन्द के पास क्या था? एक पराधीन देश के सन्त थे। किन्तु सारा विश्व उनके सन्मुख नत-मस्तक हुआ। और भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं। पर प्रश्न यह है कि मन को कैसे जीता जाय? मन की वृत्ति चञ्चल है जिसे रोकना अति कठिन है। महावीर अर्जुन जैसे व्यक्ति ने भी कहा था—

चचलं हि मन: कृष्ण
प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये
वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात्—मन का निग्रह वायु की भांति कठिन है। फिर कैसे इसको जीता जा सकता है? भगवान् कृष्ण ने भी, यद्यपि इसका उपाय बताया है, मन की चञ्चलता को स्वीकार किया है—

असंशयं महाबाहो
मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय
वैराग्येण च गृह्यते॥

इसमें भगवान् ने अभ्यास और वैराग्य दो साधन बतलाये हैं। इनमें जहाँ तक वैराग्य का प्रश्न है, इस दृष्टि से यदि मनुष्य बुरे कर्मों से आसक्ति हटाकर सत्कर्मों में कर्त्तव्य भावना से लगा रहे तो मन पर आधी विजय उसकी हो गयी, ऐसा समझना चाहिए। अब रही अभ्यास की बात। यदि मनुष्य दीक्षित है अर्थात्—गुरु-दीक्षा ले ली है तो गुरु-मन्त्र अन्यथा अपने इष्ट के किसी नाम का निरंतर जप और उसका ध्यान करते रहना चाहिए। उठते, बैठते, जागते, सोते, खाते, पीते अहर्निश जप और ध्यान की क्रिया चलती रहनी चाहिए। धान कूटने वाली स्त्री जैसे बातचीत करते हुए भी अपने हाथ का ध्यान रखती है, अर्थ का दास व्यक्ति जैसे अहर्निश अर्थ का चिंतन करता रहता है, उसी प्रकार मन्त्र का जप और ध्यान निरंतर करने पर मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। गीता में भगवान् ने भी कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो
मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव-
मात्मानं मत्परायण:॥

इस प्रकार यदि मनुष्य अभ्यास और वैराग्य इन दोनों साधनों का समुचित प्रयोग कर भगवत्परायण बना रहेगा तो वह निश्चित् रूप से मन को जीत लेगा। और फिर अपने सत्संकल्प द्वारा योग्य आचरण से न केवल अपना वरन् विश्व का भला करने की क्षमता पा लेगा।

लेखकीय सम्पर्क—
मोहल्ला-धनपाल
गंजडुण्डवारा (एटा)

तुमको नित शत कोटि नमन है !

❀ श्री नन्दकिशोर 'श्याम'

हे पुराण पुरुषोत्तम तुमको, नित शत कोटि नमन है।
तेरे संकल्पों की परिणति, रवि, शशि भूमि गगन है ॥

क्षुद्र कीट से ब्रह्मलोक पर्यन्त, तुम्हारी सत्ता।
पाया जान विभो ! कब किसने, तेरी अगम महत्ता ॥

हो विराट अव्यक्त किन्तु तुम, कायिक और प्रकट हो।
महाकाश उन्मुक्त चिरन्तन, चिदाकाशमय घट हो ॥

नाम रूप करके प्रयत्न भी, जिसे न छू तक पाते।
अहा ! वही हैं दौड़-दौड़, अधमों को गले लगाते ॥

चिदानन्द पीयूष राशि के, तुम ऊर्मिल सागर हो।
भरते सहज अभीप्सित जनके, रहते तुम गागर हो ॥

सीमातीत हुआ जन के हित, वह मानव वपु धारी।
त्रिगुणातीत गुणों में बँधकर, बना भक्त भय हारी ॥

है निरीह सबका शुभेच्छु पर, निर्विकल्प, संसारी।
कारुणीक उर-गुहा निवासी, वह अनन्त अविकारी ॥

रवि, शशि, ग्रह-मण्डल मिल जिसकी, कर न आरती पाते।
देखा उसे बैठ घर-घर में, नीराजन करवाते ॥

प्राणि-मात्र का सहज सुहृद, जो सबकी क्षुधा मिटाता।
बैठा वही भक्त की कुटिया, पत्र पुष्प फल खाता ॥

भौंह भंगिमा को विलोकते, रवि मन्थर गति चलता।
सेवा में अनुरक्त अनिल है, अविरल पंखा झलता ॥

पथ पर प्रकृति सुन्दरी जिसके, रचि-रचि कुसुम खिलाती।
गिरि मालायें जिसकी उज्वल, कीर्ति ध्वजा फहराती ॥

अंश मात्र में यह विशाल, ब्रह्माण्ड समूह जड़ा है।
बाहर इसके उस अंशी का, विभव अशेष पड़ा है ॥

हुआ सृष्टि संश्लिष्ट किन्तु जो, सबसे सदा निराला।
सिद्ध-गुफा का वासी वह ही, धोती कुर्ता वाला॥

पहुँचा कौन कलाविद् तेरी, गूढ़ कला की कृति तक।
जो कुछ है बस तू ही तू है, अथ से लेकर इति तक॥

निखिल विश्व में होता है, नर्तन नटराज तुम्हारा।
फूट रही है ताल छन्द, लय, गति की उर्मिल धारा॥

तेरे स्वर में अंकुर होता, जड़ चेतन में स्वर है।
तेरे निःश्वासों में अविरल, प्रणव-निनाद मुखर है॥

तेरी किंचित भृकुटि भंग से, महाकाल रोता है।
होता है निमेष तेरा तो, महाप्रलय होता है॥

दृगोन्मेष में तेरे मधुमय, सृजन हास करता है।
तू ही कर्ता तू ही भर्ता, तू ही संहर्ता है॥

आश्रय देता है अग जग को, जो निज बाँह पसारे।
वह विराट्, चरणों के बल, चलता है लकुट सहारे॥

युगल चरण में परम ज्योति का, सागर है लहराता।
छू उस पारस को कोई भी, पारस ही बन जाता॥

डूब रहा मझधार बीच जो, ये उसके हित तट हैं।
महा प्रलय की छाती पर ये, चढ़ते अक्षय वट हैं॥

जिसकी गरिमा का कोई भी, गान नहीं कर पाया।
क्या है कैसा है जिसका, अनुमान नही कर पाया॥

गान कर सकूँ उसका मैं यह, मुझमे सामर्थ्य नही।
केवल दो फूल चढ़ाने की, मन में प्रभु ललक रही॥

स्वीकार करें ये शब्द-सुमन, है यही अकिंचन का धन।
वस्तु तुम्हीं से पायी तुमको, करता "श्याम" समर्पण॥

सम्पर्कीय पता:—
कनकपुर-वाराणसी

सतगुरु की महिमा अनन्त

❀ सु०श्री आशादेवी

भक्ति को धर्म का साधन माना गया है और ईश्वर प्राप्ति के लिए गुरु की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। जितने भी सन्त, महात्मा, मनीषी, साधक, कवि आदि हुए उन्होंने गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है और परमात्मा के प्रति प्रेमभाव की प्रेरणा गुरु के द्वारा ही ग्रहण की जा सकती है, ऐसा स्वीकार किया है।

गुरु की व्याख्या वेदों, पुराणों और उपनिषदों में की गई है और इसे ब्रह्मा विष्णु, महेश मानकर नमन किया गया है—१

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु:
गुरुर्देवो महेश्वर:।
गुरु: साक्षात् परब्रह्म
तस्मै श्री गुरुवे नम:॥

गुरु शब्द दो अक्षरों—'गु' और 'रु' से बना है। गु का अर्थ अन्धकार होता है और रु का अर्थ उसे दूर करने वाला होता है, अर्थात् गुरु जीवन के अन्धकार को दूर करने वाला होता है—२

गुकारो अन्धकार स्यात्-
रुकारो तन्निरोधक:।
अन्धकार निरोधित्वात्
गुरुरित्यविधीयते॥

और—

कह्यो गुशब्द बहुघोर अंधारो।
महा अज्ञान माया दुःख भारो॥
ताको करे निरोधन जो ये।
रुकार शब्द कहत है सो ये॥

मनुष्य को गुरु अन्धकार से प्रकाश में लाता है और मानव जीवन को सफल बनाने में गुरु की ही कृपा रहती है, अन्यथा मानव अन्धकार में ही भटकता रहता है और उसका जीवन निरर्थक हो जाता है। गुरु ब्रह्म स्वरूप होकर जीवों को भटकने से रोकता है। ऐसे गुरु परब्रह्म परमेश्वर सदृश्य है।

किन्तु सभी गुरु एक समान नहीं होते हैं। सभी सतगुरु बनने की कोशिश करते हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी कनफूका गुरु होते हैं, जिनकी भर्त्सना भी हुई है। ऐसे गुरु शिष्य को भ्रम में डाल देते हैं और लोगों के मन में द्विविधा पैदा कर स्वयं पूज्य बन जाते हैं। ऐसे गुरु आत्मघाती हैं, समाज के जीवन के ध्वंसक हैं। संत ऐसे गुरु से लोगोंको सावधान करते हैं—३

गोविन्द के गुण गाय के,
तापर मङ्गलदान।
धिक्-धिक् पड़ी ते मानवी,
जो बेचत है भगवान्॥

---

१. भागनी अंक ८ वर्ष ८३ येन चक्षुन्मीलितम् से उद्धरित।
२. लीलारस सागर प्र० ४ श्लोक १४, चौ० ३३।
३. किरतंन प्रश्न २६ चौ० ४।

लोगों को ऐसे गुरु से सावधान रहना चाहिए और सद्गुरु की खोज करनी चाहिए। जिज्ञासु समर्पण से ही सद्गुरु की खोज संभव है और जब खोजत-खोजत सद्गुरु की प्राप्ति हो जाती है तो परमात्मा के सम्बन्ध का अंकुर फूट जाता है, चेतना का आलोक छा जाता है।

जीवन की बहुत सी उपलब्धियाँ बताई गई हैं। "गुरु के साथ गोविन्द, लघु के साथ विराट्, जन के साथ ही जनार्दन का अनुभव हो जाता है। यह अनुभव ही मनुष्य की घोषा-वाणी है।" इसमें ही सारे विवेचक तत्व एक प्रेम-भाव में विमुक्त हो जाते हैं और प्रेम-भाव में विमुक्त कर देने वाले सत्गुरु ही वह पतवार हैं, जो जीवन रूपी नाव को ले कर भव-सागर से पार कराते हैं।

वास्तव में मानव जीवन एक निरन्तर यात्रा है। जीवन के झाड़-झंखाड़ और अँधेरे की यात्रा को गन्तव्य तक पहुंचाने के लिये एक ऐसे गुरु की आवश्यकता है, जो निष्ठावान्, निश्चल एवं विवेकपूर्ण हो। जरा सा फिसलन होने पर मानव अपने अमूल्य जीवन को नष्ट कर सकता है। इसके लिये कहा गया है—१

खोज बड़ी संसार रे,
तुम खोजो साधो।
खोजत-खोजत सत्गुरु पाइये,
सत्गुरु संग करतार॥

पारब्रह्म क्यों पाइये,
ततछिन कीजे उपाय।
कै ढूंढे माहि बाहर,
बिना सत्गुरु न लखाय॥

फिर—

जो माहे निरमल बाहेर देन देखाई।
वाको परब्रह्म सों पहचान॥

जिसका अन्तर बाहर निर्मल हो, जिसे परब्रह्म परमात्मा की पहचान हो, उसी की संगति करनी चाहिये। क्योंकि ज्ञान, लाभ और आनन्द उसी से प्राप्त होता है। कहा गया है—२

साधु ऐसा चाहिये,
जैसे सूप सुभाव।
सार-सार को गहि रहे,
देइ असार बहाय॥

यह जगत् स्वयं लीलामय है अथवा लीला का बिम्ब है, किन्तु लीलाजय संसार में सत्य को पहचान कर आचरण में उतारना तथा वस्तु-विवेक कर पाना टेढ़ी खीर है। संकीर्ण में विस्तार-पिण्ड में ब्रह्मांड व्यष्टि में समष्टि, सीमित में विराट्, बिन्दु में सिन्धु, वृक्ष में बीज, मिथ्या में वास्तव, अनित्य में नित्य, असत्य में सत्य और खण्डमें पूर्णता को देखना चाहें तो सद्गुरु की बाँह पकड़नी पड़ेगी। जिस तरह रत्न का परीक्षण जौहरी करता है और क्षीर-नीर का विवेक करने का गुण हंस में होता है, उसी प्रकार भूले हुए मनुष्य

१. वही—प्र० २७ चौ० १, वही—प्र० ३५ चौ० १६, वही—प्र० २७ चौ० ८
२. कबीर ग्रन्थावली

जीवन-रत्न की उपादेयता सद्गुरु ही निर्देशित करते है।

गुरु का स्वरूप महान होता है। वह किसी प्राणी से बैर नहीं करता है। घोर से घोर दुःख भी प्रसन्नता पूर्वक सहता है। उसके मन में किसी प्रकार की पाप या वासना की भावना कभी नहीं आती। वह संयमी, मधुर-स्वभाव और पवित्र होता है। वह परिमित भोजन करता है। वह गम्भीर स्वभाव का तथा धैर्यवान होता है। वह ईश्वर भजन में तल्लीन रहता है और व्यवहार कुशल होता है, ऐसे सतगुरु से ही जीव का कल्याण होता है और भव-सागर पार करने के लिए वही एक उपाय है। उन्हीं के आश्रय पर सब अवलम्बित है।

सतगुरु वह है जो अन्धकारपूर्ण प्रकृति की सीमाओं के पार परम प्रकाश पुंज परमात्मा की ओर ले जाये। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए चन्दन धूप आदि की आवश्यकता होती है लेकिन सतगुरु को प्रसन्न करने के लिए किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती है। वे अकारण ही प्रसन्न होते है।

सतगुरु ही समुज्ज्वल सरल सुमार्ग निर्देश करते है जिस पर चलने से गिरने फिसलने का भय नहीं रहता, इसीलिए तो जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सभी लोगों ने प्रथम गुरु की खोज की और उसके माध्यम से पद, प्रतिष्ठा भगवान के निकट पहुंचाने की क्षमता प्राप्त की। अतः गुरु ब्रह्मानन्द हैं।

परब्रह्म की प्राप्ति के लिए चार मार्ग बताए गये है—योग मार्ग, ज्ञान मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति मार्ग। इन सभी मार्गों में भक्ति मार्ग सुगम और सर्वश्रेष्ठ है। ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति को भक्ति कहते है। भक्ति मार्ग में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है। गुरु की कृपा के बिना साधक को साधना सिद्धि नहीं हो सकती और न ही भगवान का अनुग्रह प्राप्त हो सकता है इसीलिये ही तो पुष्टि मार्गमें प्रभु सेवा के साथ गुरु सेवा की प्रतिष्ठा की गई है। १

हरि गुरु एक रूप नृप जान,
तामें कछु सन्देह न जान।
गुरु प्रसन्न हरि प्रसन्न होई,
गुरु के दुखित दुखित हरि होई॥

और—

भवसागर तें बूड़त राखे,
दीपक हाथ धरै।
सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ,
छिन में लै उधरै॥

माया ही जीव में अविद्या एवं अज्ञान का कारण है। यही ब्रह्म तथा जीवात्मा को अलग करने वाली प्रबलतम शक्ति है। माया से छुटकारा पाकर ही जीव सत्य तत्व की ओर अग्रसर हो सकता है। इस माया से छुटकारा दिलाने वाला सतगुरु ही है। उनकी प्राप्ति और उनके बताए गये मार्ग पर चलकर ही मनुष्य को माया से मुक्ति मिल सकती है। वस्तुतः कलिकाल में गुरु ही एकमात्र

१—सूर-सागर

सहारा है जो कलि से उबार सकता है। १.

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ-नखचन्द्र-छटा बिन्दु।
सब जग माझ अंधेरो।
साधन और नहीं या कलि में।
जासों होत निबेरो।
सूर कहा कहे दुबिध आँधरो।
बिना मोल को चेरो।

ब्रह्म तक पहुंचने वाला गुरु ही है इसलिए गुरु को ब्रह्म से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। जो ब्रह्म के बारे में बताये वह ब्रह्म से भी महान है। क्योंकि बिन गुरु ज्ञान कहाँ से प्राप्त हो सकता है अतः कहा गया है। २.

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े,
काके लांगू पांय।
बलिहारी गुरु आपने,
जिन गोविन्द दियो बताय।।

अर्थात्—गुरु की प्रतिष्ठा उसी में है जो शिष्य को ईश्वर की पहचान करावे। वैसे गुरु ईश्वर से महान है अतः सर्व प्रथम गुरु को प्रणाम करना चाहिए क्योंकि गुरु बिन ज्ञान कहाँ…………

इस प्रकार गुरु का धर्म और समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राचीनकाल से ही रहा है। किसी भी मनुष्य को महान बनाने में गुरु के समान दूसरा साधन नहीं। माया, मोह और अज्ञान के अन्धकार में भटकते हुए जीव को सतगुरु ही ज्ञान का दीपक प्रदान करके सत-पथ का संधान देता है। ३.

पीछे लहाये जाते थे,
लोक वेद के साथ।
पेंडा में सतगुरु मिले,
दीपक दीन्हा हाथ।

गुरु के चरण-कमल पवित्र होते हैं इसीलिये गुरु के चरण की वन्दना की गई है। यह मनुष्य को दैविक, दैहिक और भौतिक, त्रिविध तापों से मुक्त कराता है। मनुष्य का लोक और परलोक दोनों ही सुधर जाता है। ४.

बन्दौ गुरु पद पदुम परागा।
सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।।

साथ ही गुरु की चरण-रज मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फलों को प्रदान कराने वाला होता है। ५.

श्री गुरु चरण सरोज रज,
निज मन मुकुर सुधार।
बरनौं रघुवर विमल यश,
जो दायक फल चार।।

सतगुरु के साथ उनके चरणामृत का भी महत्व जीवन में पूर्णता से है। क्योंकि जब सतगुरु ही ब्रह्म स्वरूप है तो उनका चरणामृत क्यों न अमृत स्वरूप हो। ६.

१—सूर-सागर
२—कबीर की साखी
३—कबीर ग्रन्थावली
४—रामचरितमानस
५—वही
६—गीतारस सागर प्र० ५ श्लोक १८, चौ० ४०

गुरुः पादोदकं पानात्

गुरोरुच्छिष्ट भोजनात् ।

अस्थिमज्जोद्भवं पापं

तत्क्षणार्द्ध विनश्यति ॥

गुरु चरणामृत पान जो कीजै,

गुरु-प्रसाद नित उठ लीजै ।

अस्थीमांस पाप भरे है कोई,

अर्धक्षण माहि नाश सो होई ॥

अतः गुरु के चरणामृत से सभी पापों का नाश होता है और मानव भव-सागर को पार कर जाता है। इसीलिये तो केवट ने श्री रामचन्द्रजी के चरण धोकर चरणोदक को परिवार सहित पान किया था।

अतः[1]

गुरु चरणामृत नित उठ लीजै,

गुरु प्रसाद को भोजन कीजै ।

कीजौ गुरु मूरति को ध्यान,

कीजै गुरु स्तोत्र उर सदा बखान ॥

शिष्य को नित प्रतिदिन गुरु को प्रणाम कर उनका चरणामृत लेना चाहिये। गुरु का ध्यान प्रतिदिन आस्था से करना चाहिये।[2]

मंत्र मूल गुरु वचन चित्त दीजै,

यहि विधि गुरु को सेवन कीजै ।

गुरु कृपा तब करे प्रकाशी,

मोक्ष मिले पद अखण्ड विलासी ॥

क्योंकि कहा जाता है—अज्ञानता, मूर्खता सभी गुरु की कृपा से नष्ट जाती है और जन्म-जन्मान्तर के कष्ट मिट जाते हैं। ज्ञान, वैराग्य आदि की सिद्धि गुरु चरणोदक से ही होती है। अतः व्यक्ति को कर्मनिष्ठ होकर गुरु की महिमा को ध्यान में रखकर जप-तप करना चाहिए, जिससे उसे मोक्ष की प्राप्ति हो।

सारांशतः सद्गुरु की महिमा अनन्त है। उनके द्वारा किये गये उपकार अनन्त हैं, वह अनन्त आँखों को उघार कर अनन्त को दिखाने वाला है।[3]

सतगुरु की महिमा अनन्त,

अनन्त किया उपगार ।

लोचन अनन्त उघाड़िया,

अनन्त दिखावन हार ॥

लेखकीय सम्पर्क—

द्वारा प्रो० अवधकिशोर प्रसाद

कोल-फील्ड कालेज, झरिया

धनबाद (बिहार)

* व्यक्तिगत जीवन व्यवस्थित करने में सामूहिक जीवन की मदद मिलती है। मैं बापू के पास सन् १९१६ में गया। घण्टी बजते ही उठता था और प्रार्थना की हाजिरी मेरी कभी नहीं चूकी। वहाँ सामूहिक प्रार्थना न होती तो व्यक्तिगत जीवन को व्यवस्थित करने में मुझे जो सफलता मिली, वह न मिलती।

—विनोबा

१. वही—प्र० ५ चौ० ४३

२. वही—प्र० ५ चौ० ४४

३. कबीर ग्रन्थावली

आनन्द

श्री विष्णुप्रसाद व्यास

विन्ध्याचल की पहाड़ियों में विचरण करते हुए एक किशोर को देखा गया। कनकी रंग, लम्बा कद, कुञ्चित केश (घुँघराये बाल) चौड़ा माथा, घुटने तक भुजायें, सुडौल शरीर, मुख पर प्रसन्नता की चाँदनी हर समय छिटकी रहती थी। मधुर-मधुर होती थी उसकी बातें बड़ी छोटी-छोटी, किन्तु उनमें बड़ा गहरा सार छलका पड़ता था। वह किसी की ओर देखना जानता ही न था। जब चलता तो दृष्टि उसकी नीचे पाँवों की ओर ध्यान सदा ही श्वांसों में और एक-एक पग उसका निज छाया की ओर ही बढ़ता जाता था। अरुणाधरों पर मन्द-मन्द मुस्कान प्रतिपल खेला करती थी। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, हर्ष-शोक, निन्दा-स्तुति, मानापमान, सुख-दुःखादि सभी द्वन्द्वोंसे विमुक्त था उसका जीवन। सर्वदा अपने में निमग्न दीखने में वह चाहे इसी धरातल का प्राणी था, परन्तु उसका निवास ब्रह्माण्ड देश की वीथिकाओं (गलियों) में था। अकेला तन से और मन से, बुद्धि और चित्त से वह अकेला ही था।

आनन्द ही उसके जीवन का सम्बल (भोजन) था, आनन्द उसके श्वास-श्वास के साथ उतरता-चढ़ता प्रतीत होता था। गति उसकी अत्यन्त वेगवती रोम-रोम में उसके वैराग्य भरा था। इस पर भी वह हर एक जीव-जन्तु को विशुद्ध और स्निग्ध प्यार देता था।

१—पर्वत की चोटी पर बैठा है, भगवान् भास्कर अपनी लालिमा दसों-दिशाओं में बिखेरते हैं। पक्षियों के कल-कलरव ने विटपों की शाखाओं को बधिर बना दिया है। उधर से एक मृग अपनी मस्ती में कुलाटें भरता हुआ जा रहा था। अकस्मात् एक झाड़ी में उसके सींग उलझ गये। वह बड़ा प्रयत्न कर रहा था कि मेरे सींग छूट जायें, परन्तु वह गुल्म ही ऐसी थी जो बड़ी घनी, कटीली थी विवश होकर वह हिरन अपना सिर बुरी तरह से लगा पटकने। किन्तु दुर्भाग्यवश उसकी सम्पूर्ण शक्ति निष्फल हो जाती थी। आनन्द की दृष्टि ज्योंही उस कुरंग (हिरन) की ओर गई। वह वहाँ से वायु-वेगके समान दौड़ा और पाँच मिनट भी न लगे कि दो फर्लांग पार करके उस हिरन के निकट आ पहुंचा। अपने कोमल हाथों में हिरन की पीठ थपथपाई और आगे कदम बढ़ाकर उसके दोनों सींग उस झाड़ी की जटाओं के समान गुथी हुई शाखाओं में छुड़ा लिये। मृग ने भी उस परोपकारी किशोर के चरण-युगलों में अपना शीश झुका दिया और एक बार फिर उस आनन्द-मूर्ति की ओर धन्यवाद भरे लोचनों से निहारता हुआ वहाँसे कहीं अदृश्य हो गया।

आनन्द ने उस मूक आर्त पशु को आनन्द दान करके उसे सदा के लिये अपना ऋणी बना दिया। परिणाम यह हुआ कि जब भी आनन्द अपनी ध्यानावस्था में लीन हुआ कहीं भी उस कानन (जंगल) में बैठा होता;

यह हिरन अवश्य उसे खोज लेता और अत्यंत शान्त भाव से उसके चरणों में बैठा हुआ उसकी तरफ कृतज्ञता भरे नयनों से निहारा करता था।

२—आज न जाने क्या है ? दल के दल पक्षी उस निर्मल जल वाले झरने के किनारे पर इकट्ठे हुए आ रहे हैं। चारों दिशाओं से विहंग-वृन्द उसी झरने की ओर ही मुख किये हुए सर्राटे से भागे चले आ रहे हैं। मानो इन्होंने भी कोई पर्व मनाना हो। निर्झर के तट पर सभी पक्षी बड़ी व्यवस्था के साथ क्रम से बैठे हैं, किसी को किसी से कोई बैर नहीं। बैर-विरोध भुलाकर अति सुन्दरता से बैठे हुए विहंग-वृन्दों को देखकर आनन्द के हृदय में भी असीम आनन्द उमड़ पड़ा है।

आनन्द उस समय समाधि से उठा ही था। अनेक रंगों वाले खगोंकी अद्भुत मंडली को देखकर आनन्द का हर्ष उमड़ पड़ा। सोचा कि पक्षियों का ऐसा सम्मेलन पहले कभी नहीं देखा था। आनन्द अपने झोले में अनेक प्रकार के दाने लेकर वहाँ जा पहुंचा। उन सबके आगे अनेक प्रकार के दाने डाल दिये। आनन्द उन पक्षियों में ऐसे घुस गया, मानो वह अपने आप में एक नर-पक्षी हो। सरल, मृदुल, निष्पाप और सरल हृदय वाले मनुष्यों के साथ कौन स्नेह न करना चाहेगा। बाल्यावस्थामें गुरु नानकदेवजी के मुख-मण्डल पर आ गई धूप। होता क्या है ? समीप की ही बिल से एक कृष्ण सर्प आता है और उस प्रभु के प्यारे बच्चे के सिर के निकट ही फण फैलाकर बैठ जाता है, जिससे उसे धूप न लगा पाये। वह दिव्य बालक नानक ईश्वर का अवतार ही तो था-उसी का ही तो भेजा हुआ वह नाग था। साँप ने लोगोंको भयभीत होते देखकर वहाँ से किनारा किया और कहीं दूर कोटर (बिल) में जा छिपा। ऐसा ही एक दृश्य बालक चैतन्य महाप्रभु के बाल-जीवन में आता है। एक ही मालिक है, जो सबके हृदयों में विराजमान है। हर एक को प्रेम-प्यार की भावनाओं से आठों पहर भरते ही जा रहे हैं। सर्प को प्यार करना किसने सिखाया, उसी करुणाशील दीन प्रति-पालक भगवान् ने, यह है आनन्दनगरी की अठखेली।

आनन्द कितनी देर तक पक्षियों के झुण्डों में बैठा हुआ उनसे विनोद करता रहा। कभी किसी के पङ्खों को फड़फड़ा दे और कभी किसी को चोंच में उंगली डाल दे। किसी के आगे दाने डालकर फिर झट से उठाले। तोते को भगवान् के नाम का जप सिखाने लग पड़ा। खग-कुल भी ऐसे आत्म-विस्मृत (अपने में खोये हुए) आनन्द की मूर्ति उस किशोर के साथ लगा। कल्लोल करते कोई उसके सिर पर आ बैठता। कोई पक्षी उस आनन्द के कंधों पर बैठा मीठे गाने-गाने लगता। सच है आत्मा-आत्मा को पहचानता है। आनन्द उन शकुनियों (पक्षी) के खेल में मस्त था और वे पक्षी आनन्द के प्रसन्न-वदन को देख-देखकर मन्त्र-मुग्ध से हो रहे थे। जो कोई यह दृश्य देखता स्तब्ध रह जाता। हार्दिक भावनाओं का आदान-प्रदान मूक-भाव से ही हुआ करता है।

३—आनन्द आज अपनी मस्ती में बीहड़ कान्तार (जंगल) में निकल गया है। वहां पर ही उसने एक पर्वत की अधित्यका (पठार) पर आसन लगा लिया है। समीप से अति रमणीय निर्झर कलकल नाद करते हुए बह रहे थे। शीतल, स्वच्छ और निर्मल उनका सलिल (पानी) किसके चित्त को शान्त न कर सकता था। समाधि-मग्न बैठा हुआ किशोर सत्यलोक की आभाओं को देखने में लीन था। उसे तन-मन की कोई सुधि न रही थी। वह ब्रह्माण्ड देश से उतरते हुए अमृत का पान कर रहा था। बनैले जन्तु इधर-उधर विचर रहे थे। आश्चर्य यह है कि कोई भी हिरण पशु आनन्द की समाधि-शिलाके निकट से निकलता वह वहीं का हो रहता, उसे आगे जाना भूल जाता। वनराज केसरी का वहाँ आना हो गया, उसने ज्योंही उस आनंद विभोर आनन्द की समाधि-स्थली में प्रवेश किया, वह वहीं बड़ी शान्त-मुद्रा में बैठ गया, उसे इस बात का ज्ञान भी न रहा कि मेरे समीप ही एक मृग भी बैठा है। समीप ही उस किशोर की सौम्य एवं भद्र मुद्राको देख-देखकर अपने में समाहित से हो रहे थे। उनके अन्तःकरण में स्वच्छ प्रेम की ही धारा बह रही थी।

कुछ समय के उपरांत एक मत्त गजराज वहाँ आ जाता है। आया और आते ही उस बाल-योगी को अपनी सूँड़ (शुण्ड) से प्रणाम किया और क्षण भर वहाँ ठिठककर वह चला गया। सिंह और मृग ने वह सारा कौतुक उस दन्तावल (हाथी) को देखा। वही हाथी पुनः अपने शुण्डा-दण्ड में पाँच फल दबाये वहाँ आ उपस्थित हुआ। आनन्द-योगी के आगे उसने उन्हें रख दिया और भक्ति-भाव लेकर वहाँ से लौट गया।

यह है मालिक के भजन का प्रताप। जीव अपने आपको इस मनुष्य जन्म में अवश्य ही अपनी इन्द्रियों से मन, बुद्धि और चित्त आदि उपकरणों से ध्यानके द्वारा सर्व पृथक् करले।

मनुष्य-जन्म की प्राप्ति का लाभ केवल यही है कि वह अपने जीवन-काल में देह से ऊपर हो जाये। इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि से अपने आपको सब प्रकार से भिन्न समझे, क्योंकि वह शाश्वत शांति और अखण्ड ब्रह्म का आनन्द इन देहादि के संघात (इकट्ठा) में नहीं है, वह परमात्मा का निज स्वरूप है। ब्रह्म के साक्षात्कार कर लेने पर ही उसकी अनुभूति की जा सकती है।

वहाँ के मार्ग की तीव्रता के साथ खोज करनी चाहिये। उसका बोध होता है, सन्त-सत्पुरुषों की संगति में रहने से। वे ही उस आनन्द धाम के अधिपति होते हैं। उनकी पवित्र चरण-शरण में जाकर उनकी सेवा-सुश्रूषा करके जब साधक उनकी प्रसन्नता का पात्र बन जाता है, तब वे इसे इसके मार्ग पूछने पर वहाँ के सब रहस्य बता देते हैं। सन्त महापुरुषों की कृपा उन्हीं जीवों पर हुआ करती है जिनमें अहंकार लेशमात्र भी न हो, जो अपने को मिट्टीके ढेलेके समान समझता हो, जिसने मन में यह धारणा बना

ली हो कि "मैं यन्त्र हूं और मेरे सद्गुरु यन्त्री हैं", वे जैसा-जैसा मुझे चलायेंगे, मैं वैसा ही चलूंगा। मैं तो उनके हाथों में एक कठपुतली बन चुका हूं। जैसा नाच वे नचवाना चाहेंगे, मुझे वैसा नाचना है इसे कहा जाता है आत्म-समर्पण करना। समर्पण ही सर्वोत्कृष्ट (सबसे ऊँचा) साधन है पूर्ण ब्रह्म में समा जाने का।

आनन्द ने १६ वर्षों में जो साधना की है उसका आधार श्रीमद्भगवद्गीता के १८ वें अध्याय के ५१ से ५४ तक के श्लोक हैं, जो इस प्रकार हैं—

बुद्धया विशुद्धया युक्तो
धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा
रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी
यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं
वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं
कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो
ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा
न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु
मद्भक्तिं लभते पराम्॥
—गीता १८/५१-५२-५३-५४

अति निर्मल बुद्धि वाला, हल्का, सात्विक और नियमित भोजन करने वाला, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का जिसने परित्याग कर दिया हो। सत्वगुण के दृढ़ संकल्प से जिसने मन, बुद्धि और अहंकार अन्तःकरण के इन चार अंगों का एवं दसों इन्द्रियों का संयम कर लिया हो। राग और द्वेष से जो ऊपर हो, जिसके अन्दर दृढ़ वैराग्य हो, जिसमें अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध, मत्सर के पदार्थों को संचित करने की प्रवृत्ति न हो, जो आठों पहर अन्दर ही अन्दर अपने इष्टदेवजी के ध्यान में मग्न रहा करता हो। ममता जिससे कोसों दूर हो और चित्त से परम शान्त रहता हो, ऐसा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन अपने मालिक में एक रूप होकर उनमें विलीन हो जाने का पात्र बन जाता है और सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव में स्थित हुआ, वही सफल प्रसन्न मन वाला योगी जो न किसी के लिए शोक करता है न किसी प्रकार की चाह ही उठाता है। समस्त प्राणियों में इस प्रकार से समदृष्टि रखने वाला पुरुष ही मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि वह मालिक से भिन्न न रहकर ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

अब हम कल्पना करें कि कितना अद्भुत और अलौकिक आनन्द प्राप्त होता होगा उस परिश्रम शक्ति साधक को। ऐसे दिव्यातिदिव्य आनन्द को पा लेना कितने सौभाग्य की बात मानी जाती होगी।

४–हमारा किशोर योगी आनंद एक कंदरा

में बैठा है। नेत्रों में परम शान्ति है। मुख-मण्डल पर हर्ष और उल्लास खेल रहे हैं। पाषाण शिला पर ध्यान मुद्रा में लीन हैं।

इतने में एक मण्डली वहाँ आ पहुँची इस मण्डली में तपस्वी, योग-साधना में रुचि रखने वाले हठयोगी, त्राटक योगी, ध्यान-योगी, जप करने वाले, व्रतनिष्ठ, मौनधारी, और भी अनेक कोटि के साधक थे।

इन्होंने किसी अदृश्य शक्ति को सुना था कि तुम्हारी साधना में जिनको तुम अपने गले का हार बनाये हुए हो सबकी सब अपूर्ण है। वे तुम्हें किसी भी किनारे पर नहीं लगा-येंगी। यदि तुम अपना परम कल्याण चाहते हो तो जाओ उस किशोर योगी आनन्द के पास भव्य मूर्ति है वह—और है अतीव शान्त चित्त उसके मुख मण्डल पर एक विचित्र प्रकार का आकर्षण है—अनेक भाषाओं का विद्वान् है वह—वीतराग, आनन्द रूप। उसके समीप जाना कोई कठिन भी नहीं है। वह सबका है और सब उसके—तुम उनके वचनामृत का पान करो—उसके दो शब्दों से ही तुम सभी की दुष्कर साधनाओं का काया-कल्प हो जायेगा—ऐसा विश्वास रखो। ऐसी आकाशवाणी को उन्होंने ईश्वरीय प्रेरणा माना।

उन साधकों में किशोर-तरुण-युवक-प्रौढ़ वय के पुरुष थे। अपने-अपने वेष में सजे हुए उस गिरि गुहा के द्वार पर जा पहुँचे, विशाल वह गुहा थी। आनन्द योगी ध्यानस्थ थे। ये सभी बड़ी ही शान्ति पूर्वक उनकी कन्दरा के बाहर ही समीप के एक हरे-भरे मैदान में बैठकर लगे उनके समाधि से जगने की बाट जोहने।

आनन्द धाम की विचित्र लीलाओं का अलौकिक आनन्द लेते हुए ज्योंही उन्होंने नयन उघाड़े-त्योंही निकट में स्थित उन साधकों की बातचीत का रव उनके कानों में पड़ा। वे स्वयं ही अपने आसन से उठकर उन जिज्ञासुओं के समक्ष जा खड़े हुए।

उस भव्याकृति के प्रथम दर्शनों की दिव्यातिदिव्य छटा ने उन सभी के हृदयों को एक दम से कील दिया, वे सबके सब मन्त्र मुग्ध से हुए वहीं पर ही उनके पावन चरणार-विन्दों में नत-मस्तक हो गये। उस पुनीत विभूति ने भद्रमुद्रा में आशीष देते हुए उन्हें बैठने का आदेश दिया। और आप भी सामने पड़े हुए एक ऊँचे पाषाण पर ही विराजमान हो गये।

योगी—आप सभी तपोनिष्ठ प्रतीत होते हैं?

एक साधक—जी भगवन्! हम सभी अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार कुछ न कुछ जप-तप करने में लगे हैं।

आनन्दजी—यह साधना आप लोगों की कब से चल रही है।

एक—हम सब एक साथ तो रहते नहीं जो हम कह सकें, कि इतने वर्ष हो गये हैं वैसे १५ वर्ष से कम तो साधना किसी की भी न होगी।

आनन्दजी—इतने लम्बे काल में आप

लोगों के मनों की दशा में अच्छा परिवर्तन हो चुका होगा।

एक—अभी तो लोहा ठन्डा ही है।

ठन्डे लोहे पर तो चोट नहीं की जाती—इसे तपाना चाहिए अत्यन्त तपे हुए लोहे पर चोट करके उसे इच्छानुसार किसी साँचे में ढाला जा सकता है।

एक—यह तो आपका कथन सोलह आने सत्य है।

आनन्दजी—यह बताइये आप लोगों ने इतने प्रकार की भिन्न-भिन्न साधनाओं का अपञ्च जो रच रखा है तो किसकी आज्ञा से? कोई आपके ऊपर समर्थ सद्गुरु भी है।

एक—गुरु! गुरु तो हमने आरम्भ में बनाया था पर अब हमने गुरु की आवश्यकता को नहीं समझा।

आनन्दजी—आश्चर्य है, समर्थ गुरु के बिना किसी प्रकार की साधना करना अपना हाथ अजगर के मुखमें डालना है। मगरमच्छ के विकराल दांतो में से मणि को निकालने की इच्छा करना है। ज्वार-भाटा की उत्ताल तरंगों में कूद पड़ना है।

एक—योगीश्वरजी! हम क्या कम शक्तिशाली है? हमें आप इस प्रकार से क्यों भयभीत करने लगे है?

आनन्दजी—मुझे आपको त्रास देने से क्या मिलना है? मेरा आपसे क्या कोई प्रयोजन सिद्ध होना है? आप अपनी दांयी ओर जा रहे है और मैं अपने दांये हाथ पग बढ़ा रहा हूँ। आप अपनी इच्छानुसार साधनाओं में सफल मनोरथ हो जाइये, मुझे इस बात का कोई दुःख नहीं। परन्तु एक बात मैं आपसे अवश्य कहूँगा कि इस प्रचण्ड मन से लोहा लेना मनुष्य के अपने बलबूते का काम नहीं। इसके लिये परिपूर्ण एवं समर्थ सन्त सद्गुरुदेवजी की आवश्यकता अनिवार्य है। वे ही मन दानवराज को वश में करने का सबल मंत्र जानते हैं। ईश्वर भी मन-पी नाग के विषैले दाँतों को तो़ . नहीं बताते। यदि वे ऐसा उपकार मय . कर दिया करते तो आज कोई भी मन-व्याल से डसा जाकर विषाक्त जीवन न बिताता। जब मन सर्प काटता तो निराकार परमेश्वर तत्काल उसे निर्विष कर देते। परन्तु नहीं, यह पुनीत कर्म संत महापुरुष ही किया करते है। वे है जीवों के परमसखा, अत्यन्त कृपालु करुणावतार पर दुःख कातर। यदि आपने उनका आंचल नहीं पकड़ा और निकल पड़े है मन मतंग के दांत उखाड़ने, तो यह आपका दुस्साहस तीन युगों में भी सफल नहीं होगा।

एक—प्रभो! आपकी वाणी ओजस्विनी है। उसमें कितनी शांति भरी है? आप किस देश को अलंकृत करते हैं?

आनन्दजी—मेरा जन्म हरियाणा का है।

एक—आपका हम पूरा परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। यदि आपको बताने में आपत्ति न हो तो बताने की कृपा करदें।

आनन्दजी—आपको इससे क्या लाभ होगा? समय और शक्ति की इसमें हानि हो है, कोई विशेष लाभ तो होने का नहीं।

एक—हम लोगों में आपके वंश, माता-पिता, गोत्र, शिक्षा-दीक्षा, आयु इत्यादिक कितने ही गुप्त रहस्य हैं, जिनकी जानकारी एक नई आकृति उत्पन्न कर देगी।

आनन्दजी—आप जिस उद्देश्य से मेरे पास आये हैं, उसी की ही पूर्ति तक अपने को सीमित रखिये। इन व्यर्थ की जिज्ञासाओं से आपके मनमें अनेक प्रकार की नवीन शंकाओं का प्रादुर्भाव हो जायगा और उससे कितने ही संशय और भ्रम आकर आपकी चित्तवृत्ति को विक्षिप्त और अशांत कर देंगे।

एक वृद्ध महाशय—मुझे तो आप उस सार-वस्तु का प्रबोध कराइये, जिसे पाकर आप स्वयं आनन्द-स्वरूप हो गये हैं। मुझे आपके रोम-रोम से परम शांति उछलती हुई प्रतीत होती है। मैं भक्तियोग का उपासक हूँ। अनेक देवी-देवताओं का मैंने ध्यान-पूजन-अर्चन किया है, किन्तु मेरे चित्त को पूर्ण शांति नहीं मिली।

सभी एक ही स्वर में—हम सब परम-शांति की खोज में ही कितने तीर्थ घूम आये हैं। अनेक योगों की भी साधना की है, किन्तु मन में सभी शत्रु जीवित हैं। चंचलता पर कमर कसे हुए हैं। ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, डाकू एक से बढ़कर एक हैं और हम सभी को कठपुतली की तरह नाच नचाते हैं। साधना की सफलता का चिह्न यही होता है कि ये सब हमारे अधीन होकर इस काया-रथ में हमारे साथ भ्रमण करते रहें, हमें सतायें नहीं। एकाग्रता में बैठे हुए हमारे सूक्ष्म शरीर को अशांत न किया करें। इन्हीं की चपलता से ही हमारा कहीं सम्मान नहीं होता। संसार के पदार्थों की तृष्णा हमारे अन्दर उत्पात मचाये रहती है। आपके श्रीचरणों में इसीलिये तो आये हैं। हमें आपही जैसा उचित समझें कोई विमल ज्ञान दीजिये।

आनन्दजी—मुझे बड़ी दया हो आती है आप लोगों के जीवन को देखकर! २० वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक की आयु आपने निरर्थक कर दी। केवल मन की आज्ञा में चल करके काश कि आप में से एक-एक ने पूर्ण गुरु का आंचल थामा होता तो आज इतने अशांत न होते! सब प्रकार की साधना सुन्दर, उपयोगी और हितकर हो सकती है। शर्त केवल यह है कि वह किसी समर्थ सन्त सद्गुरुजी की आज्ञा में रहकर की गई हो। रोगी-रोगी होता है, वह अपने रोग की चिकित्सा अपने आप नहीं कर सकता क्योंकि वह समझता है कि मैं अपने चपल मन-रूपी वैद्य के द्वारा चिकित्सा कराने से कभी भी रोग से मुक्त नहीं हो सकता। पथ्य-सेवन मुझसे नहीं होगा। औषधि समय पर पीना मुझे कठिन होगा, कौनसी दवा मेरे लिये अनुकूल होगी, इसका निश्चय भी मन ठीक से न करने देगा। परिणाम यह होगा कि जो ज्वर मेरा चार घण्टे में जाना होगा, वह न जाने कितने दिन दवाइयों के चक्कर में डाल देगा? इसलिये बुद्धिमत्ता इसी बातमें है कि रोगी अपनी नाड़ी किसी उस रोग के विशेषज्ञ के हाथ में सौंप देवे। उसी की सम्मति के अनुसार उप-

चार कराले, तत्काल ही रोगका सही निदान मिल जायगा और उसके इलाज को भी थोड़ा समय लगेगा। आप लोगों की अपनी आयु के कितने ही वर्ष अपनी मानसिक शांति की खोज करते-करते निकल गये। किसी सुरत शब्द-योग के धनी सन्त महापुरुष की चरण-शरण नहीं ली। नीतिकार कहते हैं-

दोहा

बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेहु।
जो बान आवै सहज में, ताही में चित देहु॥

इस समय आपको पहला कार्य यह करना चाहिए कि आप किसी पूर्ण सन्त सत्पुरुष की शरण ग्रहण करें। श्री गुरु-चरण-कमलों के सम्बन्ध में कितने ऊंचे भावों का वर्णन किया गया है। जिसको भी नित्य सुख और पूर्ण शान्ति की इच्छा हो, वह दृढ़ विश्वास एवं अचल श्रद्धा के साथ श्री सद्गुरुदेवजी के चरणारविन्दों का स्पर्श करे। उन्हें अपने हृदय में धारण करे, आठों पहर अपने मन को उनके ध्यान में स्थिर करने का प्रयत्न करे और उनकी महिमा के बिना और किसी के गीत न गाये। आप लोगों ने जितनी भी साधना की है, उसमें आपका मन प्रधान बना रहा है। अपने गुरुदेव की आज्ञा में चलने की तरफ आपने ध्यान ही न दिया। संत सद्गुरु ही जीव के सच्चे हितैषी होते हैं। वे मनकी एक-एक नस-नाड़ी को भली प्रकार जान लेते हैं। इसलिये साधक को आवश्यक है कि वह अपने गुरुदेवजी के वचनों में चले, नहीं तो क्या होगा ?

जो कोई अपने सद्गुरुदेवजी की आज्ञा के बाहर हो जाता है, उसे बार-बार गर्भ की पीड़ाओं का महा दुःख सहना पड़ता है। सबसे बड़ी भूल यही आपने की कि किसी पूर्ण समर्थ सद्गुरु के चरणोंमें रहना स्वीकार नहीं किया, इसी कारण ही यह जन्म आपका निरर्थक ही पानी बिलोने में और रेत छानने में चला गया।

दोहा

सहजो कारज जगत के,
गुरु बिन पूरे नाहि।
हरि तो गुरु बिन क्यों मिलें,
समझ देख मन माहि॥
परमेसुर सूं गुरु बड़े,
गावत वेद पुरान।
सहजो हरि के मुक्ति है,
गुरु के घर भगवान॥

—सहज प्रकाश

सन्त सहजोबाई जी जो स्वयं सच्ची गुरु-भक्तिका एक आदर्श हुई हैं। कथन करती हैं-

संसार के कार्य भी जब किसी शिक्षक से सीखे बिना पूरे नहीं हुआ करते तो बिना सद्गुरुदेव के उस परमात्मा को प्राप्त कर लेना कोई सुगम कार्य नहीं। इस बात का गम्भीर विचार करना चाहिए।

वेद और पुराण सभी मुक्त-कण्ठ से गाते हैं कि परमेश्वर से गुरुदेव का दर्जा कहीं ऊंचा है। ईश्वर की पूजा मुक्तिधाम का द्वार दिखा देती है, परन्तु सद्गुरु-वन्दन और पूजन निर्गुण निराकार मालिक का ही साक्षात्कार

योग

✽ श्री रामकृष्ण सिंघल

योग शब्द का अर्थ है जीव और ब्रह्म का पूर्ण रूप से मिलन अर्थात् विजातीय, स्वजातीय एवं स्वगत भेद से रहित होकर जीव और ब्रह्म का एकत्व प्राप्त कर लेना—भगवान् के साथ, भगवद्विधान के साथ पूर्ण रूप से ताल-ताल पर मिल जाना, एक हो जाना। जिस अवस्था में भगवान् के अस्तित्व के सिवाय हमारा पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जायगा। भगवान् की इच्छा पूरी करने के अतिरिक्त हमारे जीवन में दूसरा कोई काम ही नहीं रह जायगा। एक शब्द में—जिस अवस्था में भगवान् की सत्ता, चैतन्य और आनन्द अपने आप हमारी वाणी, भाव और कार्य के द्वारा पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होकर प्रकट हो जाय, उसी का नाम योग है। इसी अवस्था को लक्ष्य करके मनुष्य को भगवान् का अवतार कहा जाता है।

चित्त की वृत्ति का निरोध करना, चित्त को वृत्ति शून्य करना और चित्तवृत्ति निरोध के लिए जो कुछ किया जाता है, वह सब 'योग' शब्द के अन्तर्गत आता है। साधारण अवस्था में चित्तवृत्ति प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। किन्तु समाधि अवस्था में चित्तवृत्ति एकाकार हो जाती है। चित्तवृत्ति बदलते रहने के दो मुख्य कारण हैं—पहला तो यह है कि मन इन्द्रियों द्वारा बहिर्मुख होकर बाह्य विषयों में आसक्त रहता है। दूसरा यह कि इन्द्रियों को बन्द करके मन को बाह्य विषयों से खींच भी लिया जाय, तो भी अन्तःकरण की क्रियायें बन्द नहीं हो जातीं, वे बराबर चलती ही रहती हैं। जैसे जाग्रत अवस्था में तो मन बहिर्मुखी-सा हुआ ही करता है। पर शब्दों से दूर किसी बन्द कमरे में आँखें बन्द करके बैठ जाने पर भी साधारण जन का और स्वप्नावस्था में सभी प्राणियों का अन्तःकरण जाग्रत अवस्था

करा देता है। इसलिये आप मेरे साथ ही उस आश्रम में चलिये और मेरे श्रीसद्गुरुदेव जी महाराज के पावन दर्शन करिये। नाम-दीक्षा भी लीजिये और अपने जन्म-मरण के बन्धन काटिये। आनन्दजी के साथ सब जाते हैं और श्री-दर्शन करके नाम-दान की विनय करते हैं और अन्तमें सच्चा नाम लेकर सफल मनोरथ हो जाते हैं।

उन्हें विदा करते समय पुनः ये शब्द श्री आनन्दजी उनसे कहते हैं—"आज आपका दूसरा जन्म हुआ है, आपने अब इस गुरु-मंत्र की नियमपूर्वक श्रद्धा, विश्वास और भक्ति-भाव से कमाई करनी है। इस पवित्र मंत्र को अपने हृदय में ऐसे सँभालकर रखिये जैसे एक कंजूस अपने धन को चाहे वह भूमि में गड़ा हो या बैंक में पड़ा हो, अपने चित्त में आठोंयाम सँभालता रहता है।

जितना अभ्यास करेंगे उतनी ही परम शांति मिलेगी। भजनाभ्यास व ध्यानाभ्यास के साथ-साथ संत-वाणी के स्वाध्याय का भी नियम रखें। कुछ ही वर्षों में आप अपने मन को शांत पायेंगे। कामादि शत्रु कभी व्याकुल न कर सकेंगे।

संत सद्गुरुदेवजी की ही कृपा है जो आपको मेरा पता लगा और यह सब विमल शुभ कार्य सम्पन्न होगा। ✽

के समान ही सब क्रियायें करता रहता है। योगाभ्यासियों को अन्तःकरण की पूरी अनुशासना करनी पड़ती है। चित्त की वृत्तियों का संयम करना पड़ता है। इन दोनों ही अवस्थाओं (जाग्रत और स्वप्न) में चित्त की वृत्तियों पर सम्यक् नियंत्रण रखने में सफलता प्राप्त होने पर ही 'मन' का निरोध संभव है।

पर चित्त की वृत्तियों का निरोध किया कैसे जाय ? इसके दो प्रकार हैं ! पहला यह कि 'मन' का और 'प्राण' का पारस्परिक सम्बन्ध अटूट है, अविच्छेद्य है। 'मन' के निरोध से 'प्राण स्पन्द' रुक जाता है और 'प्राण स्पन्द' की शिथिलता 'मन' को एकाग्र बना देती है। इसलिये 'मन' के निरोध के लिए 'प्राण स्पन्द' की गति-विधि पर सम्यक् अनुशासन रखना नितान्त आवश्यक है। 'प्राण स्पन्द' का सम्बन्ध-श्वास-निःश्वास से है, अर्थात् जितनी ही तीव्रता से सांस चलेगी, 'प्राण स्पन्द' में भी उतनी ही अधिक गतिशीलता आवेगी और सांस जितनी ही धीरे-धीरे चलेगी, 'प्राण स्पन्द' में भी उतनी ही अधिक शिथिलता आवेगी। अतएव मनोनिरोध के लिए 'प्राण स्पन्द' को वशीभूत करना पड़ता है और इसके लिये 'अष्टांगयोग-साधना' से—और उनमें भी विशेष कर प्राणायाम से-काम लेना पड़ता है। 'अष्टांगयोग साधना' से 'प्राण स्पन्द' रुक जाता है और उसी अवस्था में मन का निरोध होता है। यह मनोनिरोध की एक विधि है। मनोनिरोध का दूसरा उपाय यह है कि 'मन' को विवेक और वैराग्य द्वारा बाह्य विषयों से हटाने का अभ्यास किया जाय। प्रवृत्ति-भावना से अलग होकर निवृत्ति-भावना को सुदृढ़ बनाने का यह अभ्यास जब पक्का हो जाता है, तब मन का निरोध होता है। इसके लिये शास्त्रों के श्रवण और मनन की आवश्यकता अपरिहार्य है। जितना ही शास्त्र का श्रवण और मनन अधिक होगा उतना ही शीघ्र 'वस्तु' के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होगा और फलतः तत्परता तथा दृढ़ता से, उक्त प्रक्रिया द्वारा 'मन' का निरोध होगा।

आध्यात्मिक साधना में उन्नति करने के ब्रह्मचर्य का विशेष रूप से पालन करने की आवश्यकता है, भगवान् पतञ्जलि ने निर्देश किया है कि ब्रह्मचर्य धारण करने से वीर्य की प्राप्ति होती है। वास्तव में ब्रह्मचारी की अवस्था का ही वर्णन योग सूत्र में प्रकारान्तर से श्रद्धारूप से किया गया है। ब्रह्मचर्य सम्भूत वीर्य की प्राप्ति होने पर देह के अन्दर दिव्य तेज अथवा विपुल शक्ति का विकास होता है—इस तेज की अधिकता के कारण चित्त की चञ्चलता नष्ट हो जाती है, प्राणों की गति स्थिर हो जाती है और ध्येय की ओर चित्त का एकतान प्रवाह उत्पन्न होता है। इसी का दूसरा नाम ध्यान अथवा स्मृति है, उपासना का यही स्वरूप है। क्रमशः इन सबके घनीभूत होते-होते चित्त की समाधि अवस्था उत्पन्न होती है, चित्त के समाहित होने पर ध्येय वस्तु आवरण विमुक्त होकर उज्ज्वल रूप में स्वीयभाव की ज्योति से

उद्भासित और प्रकाशित हो उठता है। उस समय चित्त तिरोहित हो जाता है और एक-मात्र ध्येय ही उसके अनुभव क्षेत्र में जाग-रूक रहता है। यह ध्येय चित्त का ही एक आकार विशेष है, यह चित्त से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकाश को प्रज्ञा का उन्मेष अथवा ज्ञान चक्षु का खुल जाना कहते हैं। इस प्रज्ञा के निरुद्ध होने के बाद जिस असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है, वही वास्तव में योग कहलाने योग्य है। ब्रह्मचर्य योग की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिये नितान्त आवश्यक है।

योगियों ने योग-बल से मन स्थिर करके देह के भीतर कहाँ पर क्या है? यह सब जानकर मानसिक अवस्थाओं का पूर्ण रूप से विचार कर यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र के रहस्य का आविष्कार किया है। उनके मतानुसार हर एक चक्र में, हर एक स्नायविक केन्द्र में एक-एक प्रकार की अलौकिक शक्ति निहित है। उन निहित शक्तियों को प्राणवायु और ध्यान की सहायता से जाग्रत करके साधक दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, परचित्त विज्ञान, पर-काय प्रवेश, आकाशारोहण, योग-बल से देह-त्याग आदि अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है। योगी पुरुष देह के विभिन्न अङ्गों में चित्त स्थिर करके और प्राणवायु का संचार करके कैसे-कैसे अलौकिक कार्य संपन्न करते हैं। मन्त्र, औषधि और समाधि-जनित सिद्धि देखकर वर्तमान समय के वैज्ञानिक भी समय-समय पर विस्मित हो जाते हैं।

योग की साधन-प्रणाली को विभिन्न भागों में व्यक्त किया गया है। गीताकार और वर्त-मान महापुरुषों ने योग को साधारणतया कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इन तीन भागों में विभक्त किया है। योग के प्राचीन ग्रन्थों में हम हठयोग, लययोग और राजयोग ये तीन प्रकार के भेद देखते हैं। हठयोगी नेति, धौति, बस्ति, कपाल-भाति, आसन, मुद्रा, त्राटक, प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियाओं की ओर विशेष दृष्टि रखकर देह को स्वस्थ, बलिष्ट और कार्यशील बनाने की विशेष चेष्टा करते हैं। लययोगी समस्त कामना, वासना, आसक्ति तथा संकल्प-विकल्प के जाल से मुक्त होकर चित्त को वृत्ति शून्य बनाकर शांत अवस्था प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। उनका विश्वास है कि नित्य सिद्ध स्वयं प्रकाश आत्म-तत्त्व शुद्ध, शान्त चित्त में स्वयं स्फुरित होता है। राज-योगी देह-तत्व और मनस-तत्व तथा आत्म-तत्व को सम्यक् रूप से जानकर स्वरूप प्रतिष्ठ, "स्वे महिम्नि अवस्थित:" होकर इस देह-राज्य के जगत्-ब्रह्माण्ड के मालिक होकर अन्तरिन्द्रिय, बहिरिन्द्रिय और देहके ऊपर अधिकार प्राप्त करके इन सब यन्त्रों को अपने-अपने कार्य में भगवदिच्छा पूरी करने में नियुक्त कर मुक्त राजा के समान विराज-मान होते हैं। कोई-कोई साधक इस हठयोग, लययोग और राजयोग को कर्मयोग, ज्ञान-योग और भक्तियोग के ही अन्तर्गत समझते हैं। आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान, धारणा,

समाधि इत्यादि अष्टाङ्गयोग एवं मन्त्रयोग, जपयोग आदि यावत्योग-प्रणाली इस त्रिविध योग के अन्तर्गत हैं। गीतादि ग्रंथों में योग को कर्म की कुशलता कहा गया है। जिस उपाय से कर्म (इष्ट) सहज, सुन्दर, स्वाभाविक रूप में सिद्ध हो सके। अथ च बन्धन का कारण न हो, उसी का नाम योग है। (योगः कर्मसु कौशलम्)

योगीगण देह, मन, प्राण को शुद्ध और शान्त करके मूलाधारमें स्थित कुण्डलिनी को जाग्रत करके, सब चक्रों में, सब केन्द्रों में छिपी हुई शक्ति को प्रबुद्ध करके समस्त शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्य से विभूषित होकर सहस्रार में स्थित सदाशिव से, परमात्मा से युक्त होकर तन्मयत्व प्राप्त करके ज्योतिर्मय देह से भगवान् के साथ किस प्रकार आनंद समाधि में विभोर रहते हैं। जगत् का कल्याण करने में भगवान् की इच्छा पूरी करने में नियुक्त रहते हैं। भक्ति-योगी प्रेम के साधक होते हैं, उनके भगवान् सब भूतों में विराजमान रहते हैं। समस्त जगत्, समस्त जीव-देह उनके प्रियतम श्रीभगवान् की मूर्ति या मन्दिर हैं। श्रीभगवान् प्रकृति के सब तत्वों में, सब देहों में विराजित रहकर जीव के कर्म, ज्ञान और भक्ति के अन्दर से अपना सच्चिदानन्द भाव प्रकट कर रहे हैं। वास्तविक साधक आँख, कान, नाक आदि बाहरी इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त आदि भीतरी इन्द्रियों के द्वारा अपने श्रीभगवान् के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, अनंत सौंदर्य, माधुर्य आदि का अनुभव कर भगवत्-मिलन के आनंद में विभोर रहते हैं।

हमारे अन्दर भगवान् की अनंत शक्ति, अनंत ज्ञान, अनंत प्रेम और आनंद निहित है। हमारी कामना, वासना, आसक्ति, हमारी अज्ञानता, हमारे कुसंस्कार, हमारा स्वार्थ, आत्म-सुख की स्पृहा, अहङ्कार और प्रतिष्ठा का मोह आदि उस भगवत्-शक्ति के विकास में बाधा पहुंचाते हैं। अतएव हम जितना ही इन सब बाधाओं से मुक्त, शुद्ध, शांत, पवित्र होंगे, उतने ही भगवत्-भाव हमारे अन्दर प्रकाशित होंगे। भगवान् के और हमारे बीच का यह काल्पनिक व्यवधान जितना ही दूर होगा, उतना ही हम भगवान् के साथ युक्त होने और मिलने की योग्यता प्राप्त करेंगे।

इस विषयमें अपनी तरफ से कुछ भी लिखने की सामर्थ्य मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति में कहाँ ? मेरे तो परम पूज्य सद्गुरुदेवजी की आज्ञानुसार स्वाध्याय के आधार पर अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखा है, पाठकगण उसे पढ़कर मेरी त्रुटियों के लिए क्षमा करेंगे।

लेखकोंग सम्पर्क—
A-५ न्यू कालोनी
कासिमपुर पावर हाउस
अलीगढ़ (यू०पी०)

✱ साधु पुरुष शरीर के बने हुए नहीं होते, विचार के बने होते हैं। इस विचार को सम्भालना चाहिए।

गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य

❀ श्री बालकोबा भावे

विषय-तृप्ति विवाह का उद्देश्य नहीं हो सकती। संतानोत्पत्ति की दृष्टि से ही विवाह करना—यह आदर्श स्थिति है, जो कि प्रायः देखने में नहीं आती। आदर्श स्थिति में तो सिर्फ संतानोत्पत्ति के लिए ही विषय सेवन होगा। वासना तृप्ति के लिए नहीं। संतानोत्पत्ति निमित्त विषय-सेवन भी बिना विकार के असम्भव है। लेकिन शास्त्रों ने इतनी मान्यता दे रखी है। भगवान् कहते हैं—"धर्माविरुद्धः कामः अस्मि" जो धर्म के विरुद्ध नहीं है यानी केवल प्रजोत्पत्ति की दृष्टि ही जिसमें है, वह काम (विकार) मैं हूं (गीता ७/११)।

केवल प्रजोत्पत्ति के लिए जो विवाह सम्पन्न होता है, उसमें सन्तान मर्यादा रहेगी ही। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने जो विचार पेश किया है, वह बहुत ऊंचे दर्जे का है। गांधीजी के विचार के अनुसार एक ही सन्तान मान्य है। क्योंकि जिसके साथ विवाह हुआ वह स्त्री विवाह के पूर्व बहन ही थी। विवाह-संस्कार के समय उस बहन को पत्नी के रूप में स्वीकार किया। सन्तान होने के बाद वह माता बन गई। जिसको मातृपद प्राप्त हुआ है, उस स्त्री के साथ पत्नी के नाते कैसे व्यवहार हो सकता है? इसलिए एक सन्तान पैदा होने के बाद पत्नी को माता समझकर ही चलना होगा। यानी तब से ब्रह्मचर्य का पालन शुरू करना होगा। परन्तु सृष्टि को कायम रखने के लिए दो सन्तानों की मर्यादा मान्य करनी होगी। गांधीजी की उपर्युक्त कल्पना को स्वीकार करते हुए, विनोबा जी भी दो की मर्यादा को मान्यता देते हैं।

अब सवाल उठता है कि, जिन्हें दो से, अधिक संतान हैं, उनके लिए सत्य का दर्शन या अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है? उनके लिए सर्वार्पण या विश्व-व्यापक होने का कोई उपाय नहीं है? विनोबा जी कहते हैं—"यासाठी उपाय, थोरांनी योजिला, अनुभवें चांगला, सिद्ध झाला।" (बड़ों ने इसके लिए उपाय बताया है और वह उपाय अनुभव से अच्छा सिद्ध हुआ है।) इसमें 'थोरांनी' (बड़ों ने) शब्द गांधीजी को अनुलक्ष्य करके प्रयुक्त है। गांधीजी ने रास्ता निकाला है। कौन-सा रास्ता? विवाह हुआ ही नहीं, ऐसा समझकर पति-पत्नी भाई-बहन के जैसा व्यवहार करें। फिर वासना के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। दृष्टि ही बदल जायेगी। संकुचित वृत्ति नष्ट होकर व्यापक वृत्ति बनती जायेगी आपस में निर्मल प्रेम बढ़ने लगेगा।

प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास, इस तरह चार आश्रमों की प्रणाली थी। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश होता था। यानी संसार से मुक्त होकर ब्रह्मचर्य का पालन शुरू होता था।

गांधीजी संसार छोड़ने की बात पर जोर नहीं देते। संसार (गृहस्थाश्रम) में रहते हुए पति-पत्नी ब्रह्मचर्य का पालन करें, यह उनकी कल्पना है। यह प्रयोग गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में और साबरमती आश्रम में किया। वहाँ जो दम्पति दाखिल होते थे, वे ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और सेवा-कार्य भी करते थे। विनोबाजी के वर्धा आश्रम में भी दम्पति की ओर से ब्रह्मचर्य का पालन होता था।

ब्रह्मचर्य यानी सर्वेन्द्रिय-संयम

नैष्ठिक ब्रह्मचारी हों या विवाहोत्तर ब्रह्मचर्य-व्रती हों, काया-वाचा-मन से ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मन का उसमें सहकार न रहता हो, तो ब्रह्मचर्य का यथार्थ पालन सम्भव नहीं होगा यानी सधेगा नहीं। मन विकार में फँस जाय और बाहर से ब्रह्मचर्य के पालन की चेष्टा हो, तो वह मिथ्याचार होगा।

अब मिथ्याचार और प्रयत्नावस्था में क्या अन्तर है? यह समझ लेना जरूरी है। सिद्धावस्था यानी ज्ञानावस्था में ब्रह्मचर्य सहज हो जाता है। साधनावस्था में प्रयत्न करना पड़ता है। पूर्व-जन्म की साधना के कारण कुछ साधकों को साधनावस्था में भी ब्रह्मचर्य सहज हो जाता है। अधिकांश साधकों ब्रह्मचर्य की साधना प्रयत्नावस्था में ही रहती है। प्रयत्नावस्था का मतलब यह है कि धीरे-धीरे विकारों पर काबू प्राप्त करना। उस अवस्था में विकार जरूरी पैदा होंगे लेकिन उन पर काबू रखने का दृढ़ प्रयत्न होता रहेगा, जागृति रहेगी। विकार पैदा होने पर उनमें रस लिया, मन उनके साथ बह गया और बाहर से शारीरिक ब्रह्मचर्य का पालन किया, तो वह ब्रह्मचर्य नहीं होगा, मिथ्याचारी ही होगा। प्रयत्नावस्था में विकारों से पूर्ण असहकार होता है। प्रयत्नावस्था के ही ब्रह्मचर्य की सहजावस्था अनुभव में आयेगी।

इस विषय में गांधीजी का एक और नया विचार है। अक्सर ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ किया है, इसलिए ब्रह्मचर्य का पालन कठिन माना गया है। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल जननेन्द्रिय का संयम माना जाता है। परन्तु ब्रह्मचर्य का सही अर्थ सर्वेन्द्रिय संयम है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन मिलकर ११ इन्द्रियों का समुदाय है। उन सबका संयम होगा तो जननेन्द्रिय का संयम सुलभ हो जायेगा। ब्रह्मचर्य पालन में स्वादेन्द्रिय संयम की बहुत सहायता मिलती है। इसलिए अस्वाद का स्वतन्त्र-व्रत गांधीजी ने बताया है।

चाय !

चाय हानिकारक पेय है। यह गर्मी करती है, खून को तपाकर पतला करती है, आँखों व दाँतों को कमजोर करती है, कब्ज करती है तथा नींद को कम कर, छाया की तरह लत बन जाती है, जो स्वास्थ्य, समय और धन बर्बाद करती है। इसके स्थान पर यदि पालक की चाय पी जाय तो इससे विटामिन, धातव-लवण प्राप्त होकर कब्ज दूर करेगी व स्वास्थ्य-लाभ होगा।

दर्शनानन्द

सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर

❀ श्री विद्यानन्द सरस्वती

पञ्चप्राणाः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च सूक्ष्मभूतानि मनोबुद्धिरित्येतानि सूक्ष्म शरीरम् ।

—अनात० द० अध्याय ६, सूत्र ६५

पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म भूत, मन तथा बुद्धि—इन सप्रह घटकों से युक्त सूक्ष्म शरीर है।

सर्ग के आदि में प्रत्येक आत्मा के साथ एक-एक सूक्ष्मशरीर सम्बद्ध हो जाता है। इस शरीर का परित्याग एक ही बार प्रलय होने पर अथवा तत्त्वज्ञान हो जाने पर किया जाता है। जीवात्मा का विविध योनियों में संसरण-सूक्ष्म भूतों से घटित सूक्ष्म शरीर के द्वारा होता है। जो मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा को अवेष्ठित किये रहता है। जैसे बीज में वृक्ष रहता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर में स्थूल शरीर के बीज रहते हैं। जन्म-जन्मान्तर के कर्मों में संस्कार क्षीण होकर, कर्मों का भोग न रहने से जब आत्मा जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है तभी सूक्ष्म शरीर छूटता है। प्रलय की अवधि में भी आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर नहीं रहता, परन्तु सूक्ष्म शरीर का सहारा लिए बिना आत्मा स्थूल शरीर से काम नहीं ले सकता। इसलिए मुक्ति-काल के समाप्त होने अथवा प्रलयोपरान्त सर्ग-काल में जब भी जीवात्मा शरीर धारण करता है, तभी पहले की तरह सूक्ष्म शरीर उसके साथ सम्बद्ध हो जाता है।

सूक्ष्म शरीर पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत तथा मन और बुद्धि (अहंकार) इन सबको सूक्ष्म-तत्वों का संश्लिष्ट शरीर है। इसमें ये तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म रूप में समाविष्ट रहते हैं। प्राण समस्त करणों (पांच ज्ञानेन्द्रिय के साथ पांच कर्मेन्द्रियों को मिला कर दस बाह्यकरण तथा मन एवं बुद्धि अंतःकरण) के वृत्तिमात्र है। सूक्ष्म शरीर के घटक अवयवों के रूप में प्राणों का यही अर्थ अपेक्षित है। पांच तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) पांच सूक्ष्मभूत हैं। कारण अनाश्रित नहीं रह सकते। अतः पांच तन्मात्र उनके आश्रयभूत माने जाते हैं। सूक्ष्म शरीर स्थित ज्ञानेन्द्रियों से तात्पर्य स्थूल शरीर के दिखाई देने वाले चक्षु-श्रोत्र आदि से नहीं है; वरन् उनकी सूक्ष्म-शक्तियों से है। दिखाई देने वाली इन्द्रियाँ तो उनके गोलक मात्र हैं, जो ज्ञानेन्द्रियों की अंतर्निहित सूक्ष्म शक्ति से प्रेरित होकर ही क्रियाशील होते हैं। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति स्थूल भूतों से पूर्व पंच-तन्मात्राओं के साथ-साथ होती है।

सूक्ष्म शरीर कर्मोंका अधिष्ठान है, जिसमें संस्कार भौतिक रूप में संचित रहते हैं। इन संस्कारों के अनुरूप वृत्तियाँ बनती हैं और वृत्तियों के अनुसार मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त होता है। अन्नमय आदि कोशों का बीजमय रूप भी सूक्ष्म शरीर में सन्निहित रहता है। सूक्ष्म शरीर को माध्यम बनाये बिना अभौतिक

आत्मा भौतिक शरीरसे काम नहीं ले सकता, जब आत्मा द्वारा सूक्ष्म शरीर में विचार-तरंग उठती है तभी स्थूल शरीर में क्रिया होती है।

सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत करणों के व्यापार के कारण ही यह प्रतीत होती है कि इन सबके पीछे एक चेतन सत्ता है। इसलिए सूक्ष्म शरीर को ही लिङ्ग शरीर भी कहा जाता है। वस्तुत: जब इन करणों की प्रधानता को दृष्टि में रखकर निर्देश किया जाता है तभी उसे इस नाम से व्यवहृत किया जाता है।

तीसरे शरीर—कारण शरीर को स्पष्ट करते हैं—

प्रकृतिरूपत्वात् सर्व-
व्यापकं कारण शरीरम्।

कारण शरीर प्रकृति रूप होने से विभु है। सूक्ष्म शरीर के १७ घटकों में १२ करण आधेय अथवा आश्रित है और पांच सूक्ष्मभूत या तन्मात्रा आधारभूत तत्व है। कारण शरीर का अर्थ है प्रकृति, जिससे सभी पदार्थों का निर्माण हुआ है। आधारभूत प्रकृति के ये तन्मात्र सूक्ष्म शरीर की रचना में उपादान कारण होने से उसकी रचना के लिए मूल प्रकृति रूप है। इसीलिए कारण शरीर को प्रकृति रूप कहा जाता है। प्रकृति रूप होने से कारण शरीर को विभु कहा जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कारण शरीर व्यक्तिरूप से सर्वत्र व्याप्त है।

स्थूल शरीर की रचना में जीवात्माओं का सहयोग रहता है। अत: अनेक जाति के शरीर में समानता रहने पर भी अवयव भेद के कारण उन शरीरों को एक दूसरे से भिन्न पहचाना जा सकता है। परन्तु सूक्ष्म तथा कारण शरीर ईश्वरीय रचना होने के कारण व्यक्तिरूप से भेद होने पर भी रचना की दृष्टि से समान है। इस समानता के कारण ही सब जीवों के कारण शरीर को 'एक' कह दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि कारण शरीर व्यक्ति रूप से सब जीवों का एक ही होता है। व्यवहार में इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के आधार पर जो भेद देखने में आता है उसका कारण इन्द्रियादि के गोलक हैं न कि स्वत: इन्द्रियों की रचना अथवा उनकी अन्तर्हित सूक्ष्मशक्ति।

सुषुप्ति अथवा गाढ़ निद्रा में भी सूक्ष्म शरीर का व्यापार भी बन्द हो जाता है। उस अवस्था में कारण शरीर ही रहता है। सुषुप्ति में किसी भी प्रकार के सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि का अनुभव नहीं होता। इस समानता के आधार पर ही कारण शरीर और आनन्दमय कोश को परस्पर संतुलित किया जाता है। 卐

❀ जो जैसा करता है, वैसा ही फल भोगता है। जिनका चित्त परमेश्वर के परमानन्द का अनुभव करता है, उन्हें स्वप्न में भी किञ्चित मात्र लेश नहीं होता। वे परम गति को प्राप्त होते हैं।

—सुविचार

चिन्तन का अमृत

❀ डा० श्री महेन्द्रप्रकाश गुप्त

जो क्रोध को क्षमा में रूपान्तरित कर दे, जो शत्रुता को मित्रता में परिवर्तित कर दे, जो घृणा के स्थान पर प्रेम भावकी निर्झरिणी प्रवाहित कर दे, वही तो चिन्तन का अमृत है।

रामचरित मानस के एक प्रसंग के भाव-पलट पर एकनिष्ठ साधना और लोकोत्तर प्रतिभा के धनी लक्ष्मणजी ने चिन्तन के उत्तुङ्ग-शृंग पर एक ईर्ष्या-जनित भाव-धारा को नवीन चिन्तन-देह अर्पित करके जन-मानस का जो मार्ग दर्शन दिया है वह अपूर्व है, अनुकरणीय है।

एक दिन भगवान् श्री राघवेन्द्र सरकार अपने अनुज और सेवकों के बीच बैठे हनुमतलालजी की प्रशंसा कर रहे हैं।

सुनि कपि जिय मानस जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछमन तें दूना॥

अर्थात् हनुमान सुनो! तुमने मेरे लिए जो त्याग किया है, उसे अपने मन में कम न समझो तुम मुझे लक्ष्मण से भी दूने प्रिय हो। सब लोगों ने इस बात को सुना, सभा विस्मित हुई, समस्त श्रोतागणों ने यह सोचा कि लक्ष्मण ने अपना जीवन भगवान्‌श्री के चरणों में समर्पित कर दिया है। घर, राज्य, परिवार, पत्नी को भगवान् के लिए छोड़ दिया है। दिन-रात सर्वभावेन प्रभु-सेवा में समर्पित करते हुए भी आज भगवान् ने हनुमतलाल जी को दूना प्रिय क्यों कहा है?

एक दिन एक सज्जन ने लक्ष्मणजी को एकान्त में पाकर बड़ी सहानुभूति दिखलाते हुए कहा कि भगवान् ने हनुमान को आपसे दुगुना प्रिय कहा, यह बात मुझे अच्छी नहीं लगी। लक्ष्मणजी ने उन्हें समझाते हुए कहा कि भगवान् ने ठीक ही तो कहा है—मैं तो केवल प्रभुजी की ही सेवा करता हूँ, हनुमान जी तो केवल प्रभुजी और मेरी दोनोंकी सेवा करते हैं। इसलिए वे वास्तव में दुगुने प्रिय हैं। इस उत्तर को सुनकर वे सज्जन मौन रह गये।

दूसरे दिन, एक दूसरे सज्जन ने लक्ष्मणजी की प्रशंसा करते हुए करते हुए वही प्रसंग छेड़ दिया। लक्ष्मणजी ने बड़ी विनम्रता के साथ उत्तर दिया कि हम तो मनुष्य हैं, मनुष्य होकर मनुष्य की सेवा की तो क्या की! हनुमतलालजी तो वानर (पशु-योनि में) हैं। पशु-योनि में होकर मनुज की सेवा करे, वह वास्तव में दूने प्रिय होने योग्य है, दूसरे सज्जन की वाणी अवरुद्ध हो गई।

तीसरे दिन, एक तीसरे सज्जन ने लक्ष्मण जी से दुःख प्रकट करते हुए पूर्व प्रसंग दोहरा दिया। लक्ष्मणजी ने बड़े दुःखी भाव से कहा कि मेरी असावधानी के कारण ही तो मातेश्वरी का हरण हो गया था और हनुमानजी को बल, बुद्धि और विवेक के द्वारा मातेश्वरी की खोज निकाला गया। अब आप ही बतायें कि वे मुझसे दुगने हैं या नहीं! इस अकाट्य तर्क के आगे कोई जवाब नहीं था उन सज्जन के पास।

चौथे दिन, एक चौथे सज्जन ने बड़ी आत्मीयता दिखलाते हुए पूर्व प्रसंग को गति प्रदान की तो लक्ष्मणजी ने उनसे एक सिद्धांत की बात पूछी कि सच्चा मित्र आप किसे मानेंगे? जो सुख में साथ दे या जो दुःख में

मन की एकाग्रता के साधन :

अभ्यास और वैराग्य

❁ श्री देवेन्द्र प्रतापसिंह

मनुष्य का मन स्वभाव से ही बहिर्मुख और चंचल है। मन ही मनुष्य को प्रगति और उत्थान के मार्ग पर अग्रसर कर सकता है। अतः प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मनको अभ्यासरूपी लगाम द्वारा वश में करे। तभी कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां,
कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै,
निर्विषयं स्मृतम् ॥

अर्थात् मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होगा, वह बन्धन का और जो विषयों से पराङ्मुख होगा, वह मोक्ष का कारण होगा।

मनको एकाग्र करने के लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अभ्यास और वैराग्य को ही प्रमुख बताया है। उन्होंने स्वयं ही स्पष्ट शब्दों में कहा है—

असंशयं महाबाहो,
मनो दुर्निग्रहंचलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय,
वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थात् हे अर्जुन! यह मन अवश्य ही बहुत चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु यह मन अभ्यास और वैराग्य द्वारा निश्चित ही वश में होता है।

साथ दे? उन सज्जनने कहा कि सच्चा मित्र तो उसी को कहेंगे जो दुःख में साथ दे। तब लक्ष्मणजी ने कहा कि आप स्वयं देख लें हनुमानजी ने सुखमें नहीं, दुःख में साथ दिया है, इस कारण वे मुझसे भी दुगने प्रिय हैं। वे सज्जन आश्चर्य से लक्ष्मणजी का मुख देखते रह गये।

पाँचवें दिन, एक पाँचवें सज्जन ने पूर्व प्रसंग को एक शिकायत के रूप में लक्ष्मणजी से कहा तो लक्ष्मणजी ने कहा कि आप ही बतलायें, एक माँ के दो बच्चे हैं, एक बड़ा और दूसरा छोटा। माँ किस बच्चे को दुना प्यार करेगी! उन सज्जन ने कहा कि छोटे बच्चे को। लक्ष्मणजीने कहा कि तब तो आप समझ ही गये होंगे कि मैं बड़ा हूँ, हनुमानजी छोटे हैं, इस कारण वे प्रभु के दुगने प्रिय हैं। वे सज्जन अपनी बात से ही हार गये।

छठवें दिन, एक छठवें सज्जन ने लक्ष्मणजी को पूर्व प्रसंग की बुराई करते हुए उकसाया, तो लक्ष्मणजी ने उनके मुख पर हाथ रखते हुए कहा कि ऐसा कभी नहीं कहना। आप जानते ही हो कि मैं शेषनाग का अवतार हूँ और हनुमानजी साक्षात् भगवान् शिव के अवतार हैं। हम तो भगवान् शिव के शरीर की धूल चाटते रहते हैं। अब आपही बतलायें कौन बड़ा है? वे सज्जन संकोच के साथ बोले—बड़े तो शिवजी ही हैं। इतना कहकर वे चुप रह गये।

सातवें दिन, एक सातवें सज्जन ने पुनः उस प्रसंग को उठा दिया। इस पर लक्ष्मणजी ने कहा कि भाई भगवान् ने तो कहा है—शिव ही जगत् का मूलाधार है। इसे सुनकर वे सज्जन भी चिंतन का अमृत ग्रहण कर आनन्द-मग्न हो गये। —卐—

इसलिए प्रत्येक योगमार्ग का अवलम्बन लेने वाले व्यक्ति का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मन को भली प्रकार से वश में करे, क्योंकि अच्छी प्रकार वशीभूत मन के द्वारा ही मनुष्य योग में उत्तरोत्तर विकास करता जाता है और अन्तत: अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी क्रम से मनको निरोध करने के लिए कहा है कि-

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धि निवेशय: ।
निवसिष्यसि मय्येव
अत: उर्ध्वं न संशय: ॥

अर्थात्—तू अपने मन को मेरे में लगा और मेरे में ही बुद्धि को लगा। इसके उपरान्त तू मेरे में ही निवास करेगा। अर्थात्—मुझी को प्राप्त होगा, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

मन को इसी प्रकार से निरोध करने के लिए भगवान पतञ्जलि ने अपने योग-दर्शन में कहा है—

वीतराग विषयं वा चित्तम् ।

अर्थात्—जिस पुरुष के राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो गये हैं, ऐसे पुरुष को ध्येय बनाकर अभ्यास करने वाले का मन स्वत: ही स्थिर हो जाता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा किस प्रकार मन को स्थिर किया जाता है भगवान पतञ्जलि ने भी स्वयं ही कहा है कि—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध: ।

अर्थात्—चित् की वृत्तियों का निरोध करने के लिए अभ्यास और वैराग्य दो उपाय हैं। चित् का प्रवाह जो कि परम्परागत संस्कारों के बल से भोगों में आसक्त है उस आसक्ति को समाप्त करने का उपाय तो वैराग्य है और उस मन को कल्याण मार्ग की ओर ले जाने के उपाय को अभ्यास कहते हैं। और आगे अभ्यास की परिभाषा बताते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

तत्र स्थितौ यत्नो अभ्यास: ।

अर्थात्—स्वभाव से ही चञ्चल मन को किसी एक ध्येय में बारम्बार स्थिर करने के प्रयत्न को अभ्यास कहते हैं। अत: साधक को चाहिए कि वह इष्ट के गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वांस द्वारा जप और मोक्षदायक शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा बारम्बार चेष्टा करता हुआ अपने को अभ्यास में लगावे और अपने ध्येय में मन को एकाग्र करे इसी को गीता में अभ्यास योग के नाम से अभिहित किया गया है। लेकिन प्रत्येक साधक को यह अभ्यास बिना उकताये हुए बहुत काल तक करते रहना चाहिए। इस अभ्यास में उसकी पूर्ण निष्ठा एक समर्पित भावना रहनी चाहिए। इसके विषय में पतञ्जलि भगवान ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारा-
सेवितो दृढभूमि: ।

क्योंकि कोई भी अभ्यास में पूर्ण निष्ठा एवं दृढ़ता रहने से ही मनुष्य उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर सकता है। परन्तु इसमें भी पुरुषार्थ और प्रयत्न विशेष है क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं ही कहा है कि—

असंयतात्मा योगो
दुष्प्राप्य इति मे मति।
वश्यात्मना तु यतता
शक्यो अवाप्तुमुपायत: ।।

अर्थात्—मन को वश में न करने वाले के लिए यह योग दुष्प्राप्य है और यदि स्वाधीन मन वाले पुरुष साधन करें तो उनके लिए यह योग सहज है। अतः स्वाधीन चित्त वाले के लिए भी अभ्यास और प्रयत्न विशेष है। परन्तु 'सिद्धयोग' के पथिक को कृपा सहित प्रयत्न आवश्यक होता है कहीं तो प्रयत्न का आधिक्य कहीं कृपा का। जब तक आत्मा में देहादिक सम्बन्ध से कर्तृत्वाभिमान रहता है तब तक अपने प्रयत्न का प्राधान्य रहता है। परन्तु जब अभिमान छूट जाता है तब प्रयत्न का प्राधान्य नहीं रहता। उस स्थिति में गुरु कृपा ही प्रमुख हो जाती है। यही शरणागति है। यही यथार्थ संन्यास है। इस अवस्था में गुरु शिष्य में एकत्व स्थापित हो जाता है। इस तरह हृदय के मर्म में प्रविष्ट सभी ग्रन्थियाँ अनायास ही खुल जाती हैं। सभी प्रकार के क्लेशों का नाश होता है तब शास्त्र के अनुसार स्वतः यह स्थिति आ जाती है—

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु
छिन्नसंशयः।

यह 'सिद्धयोग' की अत्यन्त निगूढ़ साधना है। इसी तरीके से प्राप्त ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। सद्गुरु की विशिष्ट कृपा हुए बिना यह आविर्भूत नहीं होता। वस्तुत: यही तारक ज्ञान है।

इसलिए 'सिद्धयोग' में प्रयत्न या अभ्यास के साथ गुरु-कृपा ही मुख्य है।

अभ्यास की महिमा को अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है। महर्षि घेरण्ड ने "घेरण्ड संहिता" में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

अभ्यासात् कादिवर्णानां
यथाशास्त्राणि बोधयेत्।
तथा योगं समासाद्य
तत्त्वज्ञानं च लभ्यते ।।

अर्थात जैसे क आदि वर्णों का क्रमपूर्वक अभ्यास करने से सभी शास्त्रों का बोध संभव है। वैसे ही योग का अभ्यास करने से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है और जब अभ्यास द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन पूर्ण रूप से स्थिर हो जाता है, तब केवल निर्वाण ही शेष रह जाता है। यही वस्तुत: अभ्यास की पराकाष्ठा है। योगवाशिष्ठ में यही कहा है कि—

अभ्यासेन परिस्पन्दे,
प्राणानां क्षयमागते।
मन: प्रशममायाति,
निर्वाणमवशिष्यते ।।

मन को निग्रह करने के लिए दूसरा उपाय वैराग्य है, जोकि दो श्रेणियों में विभक्त है—पर और अपर। इसमें भी अपर वैराग्य को वशीकार संज्ञा वैराग्य के नाम से योग-दर्शन में बताया गया है। यथा—

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले समस्त भोगों का समाहार यहाँ "दृष्ट" शब्द में किया गया है और वे भोग जो प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं है, जिनकी बड़ाई वेद तथा शास्त्रों में सुनी गई है। ऐसे भोग्य विषयों का समाहार "आनुश्रविक" शब्द में किया गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के भोगों से जब चित्त भलीभाँति तृष्णा रहित हो जाता है। ऐसे कामना रहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था विशेष है वह "अपर वैराग्य" है। यद्यपि इस प्रकार के योगी को वास्तविक सुख का ज्ञान तो रहता है, किन्तु वह ज्ञान भी न रहने के बराबर है। उसकी इन्द्रियाँ बिना लगाम के खुले घोड़ोंके समान नहीं चलती प्रत्युत सधाये हुए घोड़ों की तरह वश में रहती है और वह वास्तविक सुख भी उसे आत्म-दर्शन के द्वारा नष्ट हो जाता है और तब वह स्थिति प्रज्ञ कहलाता है। इसके विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि—

विषया विनिवर्तन्ते,
निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य,
परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

इसी प्रकार वशीकार संज्ञा वैराग्य योगी, वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत संप्रज्ञात योग की श्रेणियों से आगे बढ़ता है तो प्रकृति की बाधायें उसे विचलित नहीं करती।

अब पर-वैराग्य के बारे में योग-दर्शन में कहा गया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्।

अर्थात् जब योगीका चित्त विषय-वासना से हीन हो जाता है और उसके चित्त का प्रवाह समान भाव से अपने ध्येय में एकाग्र हो जाता है, उसके बाद समाधि परिपक्व होने पर प्रकृति और पुरुष विषयक विवेक-ज्ञान प्रकट होता है तथा उसके प्रकट होने से साधक की तीनों गुणों और उसके कार्य में किञ्चित्-मात्र भी तृष्णा नहीं रह जाती। तब वह सर्वथा निर्द्वन्द्व अथवा गुणातीत अवस्था को प्राप्त होता है। ऐसी सर्वथा राग रहित अवस्था को "पर-वैराग्य" कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसे पुरुष की स्थिति के विषय में में कहा है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु,
न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्व सङ्कल्प संन्यासी,
योगारूढ़स्तदोच्यते॥

यही मनोनिरोध के उपाय हमारे आचार्यों ने वर्णन किया है, जिनसे मनुष्य अपना विकास करता है।

शरीर और उसका धर्म

शरीर स्वचलित कारखाना है, जो वायुके सहारे चलता है। मिट्टी, पानी, धूप, आकाश और खाद्य-पदार्थ भी इसके अंग हैं, इसमें मन फैक्ट्री मैनेजर है और आत्मा मालिक है। यह मनरूपी व्यवस्थापक, आत्मारूपी मालिक को नशे में बेहोश रखने में बड़ा ही चतुर है। यह आत्मा को सुलाता ही रहता है।

आत्मा को जाग्रत न रखना मन का जाल है, मन आत्मा का दुरुपयोग करता रहता है। इस मैनेजर का वफादार रहना न रहना पेट शुद्धि-अशुद्धि पर निर्भर है। इस शरीररूपी कारखाने को जैसी हम विशुद्ध खुराक जिसमें कार्बन, धुआँ पैदा न हो, घर्षण पैदा न हो अथवा कम पैदा हो, देखें तो यह कारखाना पूरी क्षमता से बिना किसी रिपेयरिंग के सुचारु रूप से चलता रहेगा, जिसकी गारंटी सौ वर्ष तक चलने की तो है ही।

शरीर रूपी कारखाने में मुँह के रास्ते से हर वस्तु पहुँचती है। मुँह खोलकर बाहरी अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण और व्यवहार निर्मित करता है। अतः हमें विवेक रूपी चौकीदार बिठाना पड़ेगा। जब हम गलत और अधिक ईंधन मुँह के रास्ते पेट में डालते हैं तो घर्षण और ताप, गर्मी पैदा होती रहती है, यही अतिरिक्त ताप, ज्वर है।

इस अतिरिक्त गर्मी से आँतों में मल चिपक और फँस जाता है, यही तो कब्ज और रोग है। कब्ज या रोग आसमान से या किसी के कोपसे नहीं होता। हम ही कब्ज निर्मित कर आन्तरिक प्रणाली में जगह-जगह रुकावट-फँसावट पैदा करते हैं। जब कब्ज से मल संचय होता रहता है तो इस मल में भी खाद की तरह गर्मी होती है।

जब गैसका दबाव संवेदना पैदा कर नाजुक अंगों की कार्य-प्रणाली में बाधा डालकर, क्रियाशीलता कम कर देती है तब रोग, कब्ज सिर-दर्द, मन्द-बुद्धि, चक्कर, दमा, हृदयरोग और फेफड़े आदि में अनेक बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं।

इसे समझ लेने पर शरीररूपी यह यन्त्र बिना किसी बाधा के क्षमतापूर्ण चलता ही रहता है। अतः खुराक की मात्रा और किस्म पर ध्यान देना समझदारी है। जब हम शरीर में विकार बढ़ाते हैं तो शरीर उसे बाहर करना, सफाई करना, मरम्मत करना अपना धर्म समझता है।

शरीर के धर्म को और स्वभाव को नहीं समझकर हम इन संवेदनाओं को रोगका रूप देकर, जब तक कि शरीर संवेदन-शीलता समाप्त न करदे, तब तक रोकते-दबाते इलाज और वह भी मृत्यु पर्यन्त करते ही रहते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर अपना धर्म तो नहीं छोड़ता, किन्तु ऐसे अधर्मी का साथ छोड़ कर अपने स्वतः का ही अन्त कर लेता है। अतः सर्वदा हमें अपने खाद्य विधान को सात्विक और नियमित बनाने के लिए सावधान रहना चाहिए।

—श्री सोहनलाल एन०डी०

आगामी योग-प्रचार कार्यक्रम

हैदराबाद (आ. प्र.) से योग-प्रचार कार्यक्रम के बाद पूज्यपाद गुरुदेवजी दिल्ली होते हुए २८ नवम्बर से ३० नवम्बर तक आश्रम निवास के पश्चात् १ दिसम्बर से मुजफ्फर-नगर योग-प्रचारार्थ प्रस्थान कर गये हैं यहाँ खतौली में १० दिसम्बर तक रहेंगे। उनके आगे के कार्यक्रम इस प्रकार रहेंगे।

१-१२-८७	को	मुजफ्फरनगर के लिए प्रस्थान
१-१२-८७ से १०-१२-८७ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम मुजफ्फरनगर द्वारा—श्री सुरेशचन्द शर्मा एम. डी. त्रिवेणी इंजीनियरिंग वर्क्स शुगरयूनिट खतौली जि० मुजफ्फरनगर
११-१२-८७ से १४-१२-८७ तक		निजी कार्यक्रम
१५-१२-८७	को	कालका मेल से कलकत्ता के लिए प्रस्थान
१६-१२-८७ से २५-१२-८७ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम कलकत्ता पता—४० हरियाणा भवन विवेकानन्द, रोड. (गिरीश पार्क के पास) कलकत्ता—७
२६-१२-८७	को	दुर्गापुर के लिए प्रस्थान
२६-१२-८७ से ३०-१२-८७ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम दुर्गापुर द्वारा—डा० जे० एन० साहू बी. एन. आई. सेण्ट्रल एवेन्यू गमन ब्रिज के पास डी. पी. एल. कालोनी दुर्गापुर (डब्लू. बी.)
३०-१२-८७	को	धनबाद के लिए प्रस्थान
३१-१२-८७ से ८-१-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम धनबाद द्वारा—ला० रामधनदास अग्रवाल दरी मुहल्ला पानी की टंकी के पास धनबाद-बिहार
९-१-८८	को	मुगलसराय के लिए प्रस्थान
१०-१-८८ से ११-१-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम मधुपुर द्वारा—बाबू विन्ध्यवासिनीसिंह वकील मु० पो० मधुपुर वाराणसी
१२-१-८८	को	इलाहाबा द के लिए प्रस्थान
१३-१-८८ से २३-१-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम माघमेला प्रयाग कैम्प:—काली सड़क, बाँध के नीचे रामानुज मार्ग पर पता—श्री विनय मालवीय ४५७ मालवीय नगर, इलाहाबाद

२३-१-८८	को	मेरीटार के लिए प्रस्थान
२४-१-८८ से २५-१-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम मेरीटार द्वारा—श्री पारसनाथसिंह मु० पो० मेरीटार (बलिया)
२६-१-८८	को	चित बड़ागाँव के लिए प्रस्थान
२६-१-८८ से २७-१-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम चितबड़ागाँव द्वारा—चि० आदित्यनारायण गुप्त मु० पो० चितबड़ागाँव जिला—बलिया
२७-१-८८	को	पटना के लिए प्रस्थान
२८-१-८८ से ३०-१-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम पटना द्वारा—श्री विनयकुमार सिन्हा पटना बेबी स्कूल मखनियाँ कुआँ रोड, पटना
३१-१-८८	को	लखनऊ के लिए प्रस्थान
१-२-८८ से ५-२-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम लखनऊ द्वारा—श्री सिद्धयोग शिक्षण संस्थान एफ. २४०० आवास विकास कालोनी राजाजीपुरम तालकटोरा, लखनऊ
६-२-८८	को	भिण्ड के लिए प्रस्थान
७-२-८८ से ९-२-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम भिण्ड द्वारा—श्री बी. के. सक्सेना ७ उषा कालोनी भिण्ड
१०-२-८८	को	दतिया के लिए प्रस्थान
१०-२-८८ से १२-२-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम दतिया द्वारा—श्री राजेन्द्र भारती एम. एल. ए. दतिया
१३-२-८८	को	भोपाल के लिए प्रस्थान
१४-२-८८ से १६-२-८८ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम भोपाल द्वारा—बी० डी० सिंह एम. आई. जी. फ्लैट नं० ३ सोनागिर पिपलानी भोपाल
१६-२-८८	को	दिल्ली होते हुए अमृतसर के लिए प्रस्थान

योग-प्रचार कार्यक्रम भिण्ड का आमंत्रण

भिण्ड में पूज्यपाद गुरुदेवजी महाराज का योग-प्रचार कार्यक्रम ७ उषा कालोनी में दिनांक ७ फरवरी से ९ फरवरी तक रहेगा। सभी गुरुभाई-बहनों से इस कार्यक्रम में—जो बड़े उत्साह के साथ मनाया जायगा—सम्मिलित होने की विशेष प्रार्थना है। योग-प्रेमी सभी भाइयों के लिए गुरुदेवजी के दर्शन और उनके महत्वपूर्ण प्रवचनों से लाभान्वित होने का यह अवसर रहेगा।

निवेदक :—
बी० के० सक्सैना
योग-प्रचार समिति,
भिण्ड (म. प्र.)

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Dece. 1987

प्रेषक कार्यालय : —

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, बसई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book—Post

—※※※—

श्री ....
....
....
....

❀ ध्यान : अपने आपको देखना ❀

ध्यान का आशय अन्तर्दर्शन यानी अपने अन्दर की पुस्तक का खुलना, पढ़ना, अनुभव करना। हमारा ज्ञान ही हमारा सच्चा साथी है। वह पग-पग पर हमें संकेत करता रहता है, राह दिखाता है, मार्ग-दर्शन करता है, वही सच्चा ज्ञान होता है। जैसे-जैसे ध्यान-साधना, उपलब्ध और पुष्ट होती जायगी, वैसे-वैसे ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होती जायगी।

ध्यान यानी अपने अन्दर होने वाली संवेदनाओं को शान्त-भाव से निहारना। ध्यान में शान्त-भाव से पालथी लगाकर, समता भरे चित्त से, एक प्रहर मौन, शान्त, शून्य होकर बैठना।

—एक साधक

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ ताजगंज, आगरा-1 फोन [illegible]